वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८९

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अन्तः प्रकृति बनाम विश्व-प्रकृति—डा० सविता जैन	१
२.	कनकनन्दि नाम के गुरु —स्व० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	श्री कुन्दकुन्द का असली नाम क्या था ? —श्री रतन लाल कटारिया	४
४.	नथमल बिलाला का भक्ति काव्य —डॉ० गंगा राम गर्ग	६
५.	महाराष्ट्र में जैन धर्म—डा० भागचन्द्र भास्कर	८
६.	गिरिनार की चन्द्रगुफा में················ —डॉ० लक्ष्मीचन्द्र जैन	१३
७.	सोनागिर मन्दिर अभिलेख········· —डॉ० कस्तूरचन्द 'सुमन'	१७
८.	सुख का उपाय—पं० मुन्नालाल प्रभाकर	२०
९.	श्री कुन्दकुन्द का विदेह गमन	२३
१०.	सल्लेखना अथवा समाधिमरण —डॉ० दरबारी लाल कोठिया	२४
११.	आवश्यक और दिगम्बर मुनि —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	२७
१२.	जरा सोचिए : —सम्पादक	३१

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८९

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अन्तः प्रकृति बनाम विश्व-प्रकृति—डा० सविता जैन	१
२.	कनकनन्दि नाम के गुरु —स्व० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	श्री कुन्दकुन्द का असली नाम क्या था ? —श्री रतन लाल कटारिया	४
४.	नथमल बिलाला का भक्ति काव्य —डॉ० गगा राम गर्ग	६
५.	महाराष्ट्र में जैन धर्म—डा० भागचन्द्र भास्कर	८
६.	गिरिनार की चन्द्रगुफा मे················ —डॉ० लक्ष्मीचन्द्र जैन	१३
७.	सोनागिर मन्दिर अभिलेख·········· —डॉ० कस्तूरचन्द 'सुमन'	१७
८.	सुख का उपाय—पं० मुन्नालाल प्रभाकर	२०
९.	श्री कुन्दकुन्द का विदेह गमन	२३
१०.	सल्लेखना अथवा समाधिमरण —डॉ० दरबारी लाल कोठिया	२४
११.	आवश्यक और दिगम्बर मुनि —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	२७
१२.	जरा सोचिए : —सम्पादक	३१

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

क्या सब ठीक हो रहा है ?

शब्दानामनेकार्थाः—शब्दो के अनेक अर्थ होते है। यह एक प्रसिद्ध वाक्य है और मुक्तावली-विश्वलोचन आदि ऐसे अनेक कोश हैं जिनमे एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गये हैं। इसी परम्परा मे हमारे समक्ष अभी 'समयसार' शब्द के भी अनेक अर्थ आए है। यद्यपि अभी तक ये अर्थ अनेकार्थक कोशो में नही आ सके है पर, यदि जनता का रुझान इन वर्तमान अर्थों की ओर रहा तो सन्देह नही कि इन्हें भी कोशों में स्थान मिल जाय।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार लिखा और उनका पूरा कथन आत्मा के परिप्रेक्ष्य मे रहा। और अन्य व्याख्याकारो ने भी 'समय' शब्द को षड्द्रव्यो के निर्देश मे बतला, उनमे से सारभूत आत्मा को ही स्व—ग्राह्य माना। तथाहि—'स्व-स्वगुणपर्यायान्प्रति सम्यक् प्रकारेण अयन्ति गच्छन्ति इति समयाः पदार्थाः। तेषा मध्ये सारः ग्राह्य. समयसार: आत्मा इत्यर्थ.।'—अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुणो और पर्यायो को प्राप्त होते रहते है वे समय यानी पदार्थ हैं और उन पदार्थों मे (जीव को) प्रयोजनीभूत—ग्राह्य होने से आत्मा मात्र ही सार है—इसके सिवाय अन्य सभी द्रव्य जीव के लिए असार है, अग्राह्य है।

'समयसार' शब्द के अर्थ प्रसग मे एक सज्जन ने हमे यह भी बताया कि 'समयसार' तो ए॰ ग्रन्थ का नाम है। जब कोई कहता है—'समयसार लाओ' तो कोई उसे आत्मा थोड़े ही पकड़ा देता है। वह तो अल्मारी खोलकर ग्रन्थ ही तो लाता है और स्वाध्यायकर्ता उस ग्रन्थ को आसन्दी पर विराजमान कर उसका स्वाध्याय कर लेता है। और फिर कुन्दकुन्द ने भी तो शास्त्र ही रचा था—आत्मा को तो रचा नही। सो हम तो जितना बनता है कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ का उपयोग कर लेते हैं। अमृतचन्द्र और जयसेन आदि आचार्यों ने भी समयसार शास्त्र की ही व्याख्या की है। इससे भी सिद्ध होता है कि—'समयसार' एक शास्त्र विशेष का नाम है।

तीसरा अर्थ जो हमारे सामने है वह आधुनिक है और लोगो का उससे लगाव भी दिखता है। यानी आज का मुनि और श्रावक अधिकांशतः (सभी नही) समझ रहा है कि—समय यानी टाइम (Time)! और टाइम (वर्तमान) का जो सार है या वर्तमान टाइम में जो सार (ग्राह्य) माना जा रहा है वह समयसार है—**पैसा**। और आज अर्थ-युग माना जा रहा है। हर आदमी अर्थ के पीछे दौड रहा है। उसको पूर्ण विश्वास हो गया है कि पैसे से कोई भी काम कराया जा सकता है। जबकि जैनधर्म इसका अपवाद है और वह पैसे को परिग्रह मे शुमार कर उसे पाप कह रहा है—हेय कह रहा है। ऐसा क्यो? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उलझन मे डाल रहे है।

हमारी दृष्टि मे उक्त तीनो अर्थों मे से प्रथम दो अर्थ आगमानुकूल और धर्म सम्मत है। प्रथम अर्थ सर्वथा उपादेय है और दूसरा अर्थ उस उपादेय में साधनभूत है। यानी जब ग्रन्थ का स्वाध्याय करेंगे तब मार्ग मिलेगा और बाद मे शुद्ध आत्मतत्वरूप समयसार मे आया जा सकेगा। अब रही तीसरे अर्थ (पैसा) रूप अर्थ की बात, सो जैन की दृष्टि से तो पैसे की पकड़ तो पतन का ही मार्ग है। पैसा परिग्रह है और शास्त्रो मे परिग्रह को पाप कहा है। जैन शास्त्रो मे जो 'जल मे भिन्न कमल' और 'भरत जी घर ही मे वैरागी' जैसे कथानक है वे स्पष्ट कह रहे है कि यदि पैसा आदि वैभव मे सार होता तो तीर्थंकर आदि उसे क्यो त्यागते? जब कि आज का गृहस्थ ही नही, कई त्यागी तक पैसे से चमत्कृत हो रहे है और किसी मे अकुश लगाने की हिम्मत नही हो रही कि त्यागी का काम चन्दा-चिट्ठा करना-कराना नही—वे ऐसी प्रवृत्तियो से विराम लें, आदि। क्या, यह सब ठीक हो रहा है? जरा सोचिये!

—सम्पादक

ओम् अर्हम्

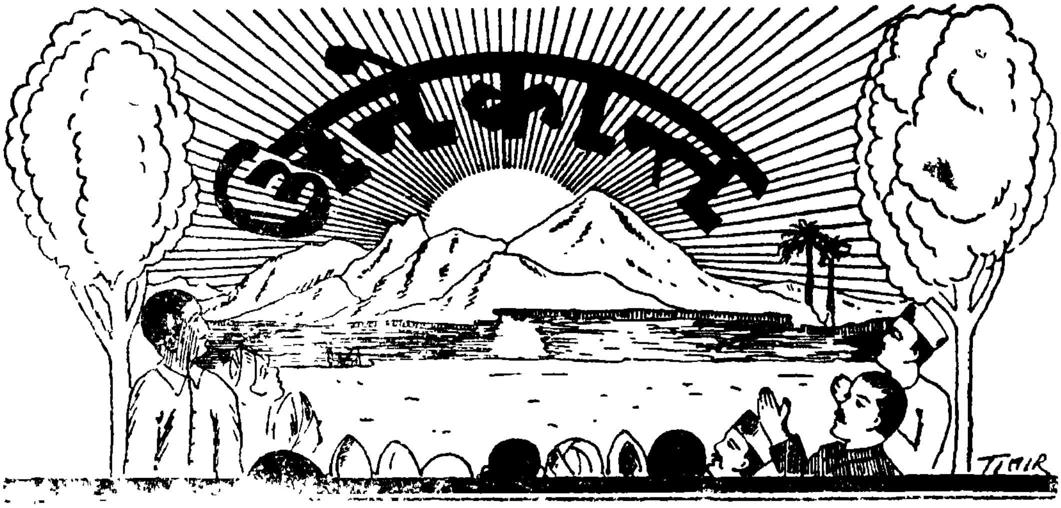

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४२ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण संवत् २५१५, वि० सं० २०४५ | १९८९

"अन्तः-प्रकृति बनाम विश्व-प्रकृति"

मैं अब तक जान नहीं पायी, है सागर की गहराई कितनी ?
मन के सम्मुख सागर भी, लगता है मुझको उथला-उथला ॥

हिम आच्छादित शैल-शिखर भी, छोटा लगता मान-शिखर से।
तप्त सूर्य पिघलाता हिम को, पर मानी का मान न गलता ॥

दावाग्नि जब-जब जलती है, भस्म कर देती वन उपवन को।
क्रोधाग्नि के सम्मुख वह भी, लगती फीकी-फीकी क्यूं है ?

घन आच्छादित हो रवि-किरणें, यों छिपती तम के पटलों में।
मोह तिमिर के सम्मुख जैसे, ज्ञान-ज्योति आलोक रहित हो ॥

तृष्णा नागिन जब-जब डसती, लहर जहर परिग्रह की उठती।
बूंद-बूंद सागर को भरती, पर मनः कूप की प्यास न बुझती ॥

आखिर अब तो मान चुकी मैं, मन की तह को छान चुकी मैं।
उद्दाम वेग अन्तः प्रकृति का, लज्जित करता विश्व-प्रकृति को ॥

—डॉ० सविता जैन

7/35 दरियागंज, नई दिल्ली-2

कनकनन्दि नाम के गुरु

☐ स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ
(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

जैन शिलालेख संग्रह, एपिग्राफिका कर्णाटका, इण्डियन एण्टीक्वेरी; वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित पुरातन जैन वाक्य सूची, श्री पी. बी. देसाई कृत जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, श्री बी. ए. साल्तोर की पुस्तक मेडिवल जैनिज्म, पं० नाथूराम प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास और अपनी पुस्तक प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये आदि में ७वी शती ईस्वी से १३वी शती ईस्वी के मध्य हुए कनकनन्दि नाम के गुरुओ के १६ उल्लेख मिलते है। इन कनकनन्दि नाम के गुरुओं के सम्बन्ध मे कभी-कभी नाम साम्य के कारण एकाधिक गुरुओं को अभिन्न मान लेने अथवा भिन्न-भिन्न स्थानो पर उल्लेख होने के कारण एक ही गुरु को भिन्न-भिन्न समझ लेने की भ्रान्ति होने का परिहार करने के उद्देश्य से प्राप्त उल्लेखो का यथा-संभव कालक्रमानुसार सक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) तमिलनाडु मे मदुरै जिले के एक जैन गुहा मन्दिर की विशाल महावीर प्रतिमा के प्रतिष्ठापक अभि-नन्दन भट्टारक के गुरु कनकनन्दि भट्टारक। इनका समय लगभग ७वी शती ईस्वी अनुमानित है। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग चार, पृष्ठ २२; श्री देसाई की उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५६]

(२) तमिलदेशस्थ कुरण्डीतीर्थ के कनकनन्दि पेरि-यार। इनके शिष्य पूर्णचन्द्र थे। इनका समय लगभग ७वी-८वीं शती ईस्वी अनुमानित है। [श्री देसाई की उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६६; मेडिवल जैनिज्म पृष्ठ २४५]

(३) सत्व स्थान और विस्तर-सत्व त्रिभगी अपरनाम विशेषसत्ता-त्रिभगी नामक प्राकृत ग्रन्थो के रचयिता कनकनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती। यह चामुण्डराय (९७८ ई०) के गुरु और गोम्मटसार आदि के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के विद्यागुरु थे। इनका समय लगभग ९५० ई० अनुमानित है। [प्रेमी जी का जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ २७१; पुरातन जैन-वाक्य सूची पृष्ठ १०८]

(४) देसीगण के कनकनन्दि भट्टारक अष्टोपवासि, जिन्हे १०३२ ई० मे चालुक्य सम्राट जगदेकमल्ल प्रथम ने जगदेकमल्ल जिनालय के लिए दान दिया था। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग चार, शिलालेख १२६; श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ ३९४]

(५) सब्बिनगर के धोर जिनालय के आचार्य कनक-नन्दि। इनके समाधि-मरण करने पर इनका गृहस्थ शिष्या भागियब्बे ने १०६० मे उनकी निसिधि (समाधि-स्मारक) बनवायी थी। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग चार, शिला-लेख १४८]

(६) हुम्मच के तैलप द्वितीय भुजबल सान्तर के गुरु कनकनन्दि। इन्हे उक्त राजा तैलप ने १०६५ ई० मे स्वनिर्मापित भुजबल-सान्तर जिनालय के लिए एक ग्राम दान किया था। [प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये पृष्ठ १७३]

(७) सूरस्थगण-चित्रकूटान्वय के आचार्य सकलचन्द्र के सधर्मा कनकनन्दि सैद्धान्तिक जिनके शिष्य सिरिणदि (श्रीनन्दि) पण्डित की शिष्या आर्यिका हुलियब्बाजिजके ने १०७१ ई० मे सरटवुर (सोरटूर) स्थित बलदेव जिनालय के लिए दान की व्यवस्था की थी। [जैन शिलालेख सग्रह भाग चार, शिलालेख १५३; श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ १४४]

(८) मूलसघ-सूरस्थगण-चित्रकूटान्वय के कनकनन्दि भट्टारक, जिनके शिष्य उत्तरासग भट्टारक; प्रशिष्य भास्क-रनन्दि पंडित, श्रीनन्दि भट्टारक और अरुहणदि भट्टारक थे और श्रीनन्दि या अरुहनन्दि के शिष्य वह आर्यपडित थे जिन्हें राजा सोमेश्वर द्वितीय ने १०७४ ई० मे अरसर

बसीद नामक जिनालय के लिए दान दिया था। संभवतया यह कनकनन्दि क्रमांक (७) पर उल्लिखित कनकनन्दि से अभिन्न हैं, यद्यपि क्रमाक (७) में श्रीनन्दि को उनका शिष्य और यहां प्रशिष्य बताया गया है। इन कनकनंदि भट्टारक का समय क्रमांक (४) और (५) पर उल्लिखित कनकनन्दियों के मध्यवर्ती रहा प्रतीत होता है। [श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ १०७]

(९) कनकनन्दि त्रैविद्यदेव, जो शुभचन्द्रदेव की शिष्य परम्परा में हुए और उन मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव के गुरु थे जिनका गृहस्थ शिष्य केतब्बे था जिसने ११११० ई० मे भूमि, मकान, आदि दान किये थे। [एपीग्राफिका कर्णाटका, भाग सात, ८६; जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, शिलालेख २५१]

(१०) मूलसंघ-क्राणूरगण के अनन्तवीर्य सिद्धान्ति के शिष्य और श्रुतकीर्तिबुध एव मुनिचन्द्र व्रतिप के सधर्मा कनकनन्दि त्रैविद्य। मुनिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र को ११११२ ई० में दान दिया गया था। इन कनकनन्दि के गुरु या (अधिक संभावना है) प्रगुरु प्रभाचन्द्रदेव १०६७ ई० मे विद्यमान थे। [एपीग्राफिका कर्णाटका, भाग सात, ६४, जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, शिलालेख २९९]

(११) ११२१ ई० के एक शिलालेख मे उल्लिखित कनकनन्दि त्रैविद्य। लेख मे उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—मूलसघकोण्डकुन्दान्वय-क्राणूरगण-मेषपाषाण-गच्छ के महावादी प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य माघनन्दि सिद्धान्तदेव थे, जिनके शिष्य प्रभाचन्द्र द्वितीय, अनन्तवीर्य और मुनिचन्द्र थे। मुनिचन्द्र के शिष्य या सधर्मा श्रुतकीर्ति तथा वह कनकनन्दि त्रैविद्य थे। जिन्हें राजदरबारो में 'त्रिभुवनमल्ल वादिराज' कहा जाता था। इनके सधर्मा माधवचन्द्र थे जिनके शिष्य बालचन्द्र यतीन्द्र थे। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग दो, शिलालेख]

यद्यपि ऊपर क्रमांक (९) पर कनकनन्दि त्रैविद्यदेव को मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव का गुरु, क्रमांक (१०) पर मुनिचन्द्र व्रतिय का सधर्मा और क्रमांक (११) पर मुनिचन्द्र का शिष्य या सधर्मा उल्लिखित किया गया है। और इन तीनों क्रमांको पर उल्लिखित गुरु-शिष्य परम्परा में कुछ विसगति भी प्रतीत होती है, संभावना यही है कि इन तीनो क्रमांको मे उल्लिखित कनकनन्दि त्रैविद्यदेव अभिन्न हैं। इनका समय लगभग ११००-११२१ ई० अनुमानित है।

(१२) श्रवण बेलगोल मे चामुण्डराय बसदि में प्राप्त ११२० ई० के एक शिलालेख मे उल्लिखित कनकनन्दि मुनीश्वर जो मुल्लूर या मल्लूर (कुर्ग मे) के निवासी थे और होयसल राज्य के प्रधान मन्त्री गंगराज की माता पोचिकब्बे, जिसने ११२० ई० में समाधि-मरण किया था, के पति, गंगराज के पिता और नृपकाम होयसाल के मंत्री एवं सेनानायक एचिगांक अपरनाम बुधमित्र के गुरु थे। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग एक, शिलालेख ४४, मैडिवल जैनिज्म पृष्ठ ११६; प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये पृष्ठ १४२]

(१३) ११२३ ई० के एक शिलालेख में उल्लिखित कनकनन्दि पण्डितदेव, जो देसीगण-पुस्तकगच्छ-कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा में कोल्लापुर (कोल्हापुर) की श्री रूपनारायण वसदि के आचार्य माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य, चन्द्रकीर्ति और प्रभाचन्द्र पण्डितदेव के सधर्मा, 'वादीभसिंह' आदि उपाधिधारी महावादी थे। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग दो, शिलालेख २८०; इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग चौदह]

(१४) देवकीर्ति पण्डितदेव के ११६३ ई० के समाधि-स्मारक लेख में उल्लिखित कनकनन्दि योगीश्वर, जो माघनन्दि त्रैविद्य, श्रुतकीर्ति, देवचन्द्र तथा उक्त देवकीर्ति पण्डितदेव के सधर्मा थे। [जैन-शिलालेख सग्रह, भाग एक, शिलालेख ४०]

(१५) श्रवण बेलगोल की चामुन्डराय शिला पर उत्कीर्ण एक नामांकित मुनि मूर्ति (काल अनिश्चित) मे उल्लिखित श्री कनकनन्दि देवा [जैन शिलालेख संग्रह, भाग एक, शिलालेख २५१]

(१६) कोल्लापुर (कोल्हापुर) के सामन्त जिनालय के कनकनन्दि मुनि, जिनके शिष्य प्रभाचन्द्र थे (समय १२७६ ई०)। [श्री देसाई की पुस्तक पृष्ठ १५१]

श्री कुन्दकुन्द का असली नाम क्या था ?
क्या वे पल्लीवाल जाति के थे ?

☐ श्री रतनलाल कटारिया

आ० कुन्दकुन्द के ५ नामों मे पद्मनंदि नाम तो दीक्षावसर का है और कुन्दकुन्द नाम गांव के नाम का द्योतक है व्यक्ति नाम नही। जैसे "सर्वपल्ली राधा कृष्णन" मे सर्वपल्ली गाव का नाम है। प्रसिद्ध फिल्मकार बी० शांताराम मे बी=वणकुन्ने गांव का नाम है। दक्षिण मे गांव का नाम पहिले बोलने की पद्धति है। अत: कुन्दकुन्द (कौण्ड कुन्द) गांव का नाम है इसके आगे व्यक्ति नाम रहना है वह बोलने की सुविधा-संक्षिप्ती करण से लुप्त हो गया है। इधर उत्तर प्रान्त मे गांव का नाम जो गोत्रत्व को लिए हुए है वह नाम के बाद में बोलते हैं जैसे "पाटणी" "गदिया" आदि।

"पाटणी जी" बोलने से असली नाम का पता नही लगता वैसे ही "कुन्दकुन्द" से सिर्फ गांव का नाम दचोतित होता है व्यक्ति नाम नही, दीर्घ काल से असली नाम लुप्त हो गया हैं उसकी खोज होनी चाहिए।

कुन्दकुन्द के शेष नाम—वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ, ऐलाचार्य आदि भी सही प्रतीत नही होते कल्पित और अन्य से सबद्ध ज्ञात होते है।

श्रीषेण वृषभसेन, कौण्डेश: शूकरश्च दृष्टान्ता: ।।११८।।
रत्नकरण्ड श्रा० के इस श्लोक मे जो शास्त्रदान के रूप मे "कौण्डेश" का दृष्टान्त दिया है वह भी कुन्दकुन्द प्रभु से ही सबद्ध है। यहां "कौण्डकुन्द" ग्राम का सक्षिप्त नाम कौण्ड और उसके ईश=प्रभु इस प्रकार 'कौण्डेश." दिया गया है। इसीलिए बाद के आचार्यों ने इसकी कथा मे कुन्दकुन्द के दीक्षा नाम पद्मनन्दि मुनि का उल्लेख किया है इससे यह दृष्टान्त कुन्दकुन्दाचार्य को सिद्ध करता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि—कुन्दकुन्द, समन्तभद्राचार्य से पूर्व हुए है।

"बृहज्जैन शब्दार्णव" भाग १ (सन् १९२४) पृष्ठ ११८ पर "अगपाहुड" के वर्णन मे कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन चरित्र देते हुए लिखा है कि—इनका जन्म मालवा देश में बूंदी कोटा के पास बारां मे हुआ था यह जाति के पल्लीवाल थे। चारित्रधर्मप्रकाश (सन् १९७६ सीकर से प्रकाशित) के अन्त मे आचार्यों की पट्टावली दी है उसमें अनेक प्राचीन आचार्यों की जाति बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य को भी पृष्ठ ३१० पर "पल्लीवाल" जाति का लिखा है (यही बात प्रस्तावना पृ० ७ पर भी लिखी है) "महावीर जयती स्मारिका १९८८" के पृ० २—९९ पर डा० कस्तूरचन्द जी काशलीवाल, जयपुर ने भी यही सब लिखा है।

किन्तु भगवान् कुन्दकुन्द दक्षिण देश (आन्ध्र-द्रविड प्रदेश) में पैदा हुए है। उन्हें बारां (राजस्थान) का बताना किसी गहरी भूल का परिणाम है। उसका खुलासा इस प्रकार है कि—"जबूदीव पण्णत्ति" के कर्त्ता पद्मनन्दि वि० सं० १०३४ मे हुए है वे बारा नगर के थे। इस विषय मे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने "जैन साहित्य और इतिहास" (द्वि० सस्करण पृ० २५९) मे लिखा है कि—"ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषा ग्रन्थ मे कुन्दकुन्द की कथा दी है उसमे कुन्दकुन्द को इसी बारां के धनी कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता का पुत्र बताया है। पाठक जानते है कि कुन्दकुन्द का एक नाम पद्मनन्दि भी है। जान पडता है कि—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्त्ता पद्मनन्दि को ही भ्रमवश कुन्दकुन्द समझ कर ज्ञानप्रबोध के कर्त्ता ने कुन्दकुन्द का जन्मस्थान कर्नाटक के कौण्ड कुन्दपुर के बदले बारा बतला दिया है। कुन्दकुन्द नाम की उपपत्ति बिठाने के लिए कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता की कल्पना भी उन्ही के उर्वर मस्तिष्क की उपज है।"

बारां मे इन्ही पद्मनन्दि की एक निषिद्या (चरणचिह्न) भी है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश उसे भी कुन्दकुन्द की बता दी है। जब दक्षिण के कुन्दकुन्द को बारां (राजस्थान)

का कल्पित कर दिया तो राजस्थान की ही पल्लीवाल जाति की भी उनके साथ कल्पना कर दी गई। अन्यथा दक्षिण में पल्लीवाल नाम की कोई जाति है ही नही वहां तो अन्य ही जातियां है। यह सब गडबड़ पद्मनन्दि नाम-साम्य के कारण हुई है। ये सब इतिहास की भयंकर भूलें है और आधुनिक भाषा-ग्रन्थ "ज्ञानप्रबोध" आदि के कर्त्ताओं की गहरी नासमझी के परिणाम हैं। इन्ही के आधार पर अब तक विविध भाषाओं मे विद्वानो ने कुंदकुंद के जीवन चरित्र को लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जब इस प्रकार मूल में ही भूले है तो वे सब ग्रन्थ कहां से प्रामाणिक हो सकते है। अतः नये शिरे से, गहरी छानवीन और ऊहापोह के साथ कुन्दकुन्दाचार्य का प्रामाणिक जीवन-चरित्र लिखे जाने की सख्त जरूरत है चाहे वह छोटा ही हो किन्तु होना चाहिए सुसंगत इतिहास।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देह वेदयदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः ॥४२॥
—रत्नकरण्ड श्रा०

(पदार्थ को जैसा का तैसा, न कम न ज्यादा, न गलत न उल्टा, सन्देह रहित सही-सही जानना ही सच्चा ज्ञान है।)

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथ।
जिनशासन माहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥
—रत्नकरंड श्रा०

अज्ञानान्धकार के प्रसार को यथायोग्य दूर कर जो जिनशासन के माहात्म्य को प्रकट करना है वही सच्ची प्रभावना है।)

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्यकार्यः परिग्रहः ॥ हरिभद्रसूरि

(न जिनेन्द्र महावीर के प्रति पक्षपात है न कपिलादि अजैनो के प्रति विद्वेष है—जिनके वचन युक्तियुक्त (सुसंगत) हों उन्ही का ग्रहण करना चाहिए।)

"बारस अणुवेक्खा" की अन्तिम गाथा ९१ मे "कुन्द-कुन्दमुणिणाहे" लिखा है इस पर किसी विद्वान ने आचार्य वर पर स्वप्रशसा का आरोप लगाया है किन्तु उसका अर्थ कुन्दकुन्द मुनिनाथ न करके कुन्दकुन्द मुनि के नाथ अर्थात् जिनेन्द्रदेव करना चाहिए। हुए न हैं न हो इगे मुनींद कुन्दकुन्द से ॥

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ अत्यन्त सरल-सुस्पष्ट, सहज, सुदृढ़, लाजवाब, बेमिसाल, सारभूत और अद्वितीय हैं। मोक्षमार्ग के लिए उनका खूब प्रचार होना चाहिए। इन्ही की बदौलत श्वेताबरादि दि० हुए है और आगे भी इन्ही के ही प्रताप से होंगे। यह सब की एक मास्टर 'की' (चाबी) है ॥

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ असारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

नथमल विलाला का भक्तिकाव्य

❒ डा० गंगाराम गर्ग

अनेक काव्य रचनाओ के प्रणेता होने पर भी जैन साहित्य मे विस्मृत महाकवि नथमल "विलाला" अपने समय के महान् शासक जाट राजा सूरजमल द्वारा प्रतिष्ठित कवि थे। महाराजा सूरजमल ने अपने पोतदार "बेनी" के कहने पर नथमल को आगरा से भरतपुर बुलवा कर अपने खजाने पर नौकरी दी थी। "जीवन्धर चरित" की प्रशस्ति मे नथमल विलाला ने अपना जन्म-स्थान, आगरा का जयसिंहपुरा बतलाया है। इनके पितामह जेठमलशाह और पिता सोमचद थे।

"नेमिनाथ व्याहुलो" और 'अनन्त चतुर्दशी व्रत कथा' के रचनाकाल क्रमश: सवत् १८१६ वि० एव १८२४ वि० होने के कारण इस अवधि मे कवि का भरतपुर नगर मे रहना सुनिश्चित है। भरतपुर मे लिखी गई कवि की अन्य रचनाएँ "जिन गुणविलास (स० १८२२ वि०) और 'चीठी' है। नथमल ने सिद्धान्तसार दीपक (वि० सवत् १८३४) और नागकुमार चरित (स० १८३७) की रचना हिण्डौन मे की। माघ कृष्ण सप्तमी सवत् १८४३ वि० को स्वय के हाथ से लिखी गई एक प्रति के आधार पर कवि का हिण्डौनवास प्रमाणित है। सवत् १८४३ के पश्चात् कवि ने अपने अन्तिम दिन करौली मे व्यतीत किए। यहां इन्होंने ३०५ छन्द के विशाल ग्रन्थ समवशरण मगल की प्रतिलिपि सवत् १८४८ वि० मे की है। करौली नगर के पचविला मुहल्ले के पास स्थित विलालाओ की हवेली उजड़े रूप मे आज भी विद्यमान है।

विभिन्न छन्दो मे चरितकाव्यो और सैद्धान्तिक ग्रन्थो के रचयिता नथमल विलाला की भक्तिभावना बेजोड़ है। जिनभक्ति से प्रभावित होकर ही कवि ने अपनी 'चीठी' नामक रचना मे सुदूरवर्ती कर्नाटक देश मे विद्यमान जैन मन्दिरों की हीरा-पुखराज, चाँदी व सोने की कलात्मक मूर्तियो और धार्मिक वातावरण का सजीव चित्र खीचा है।

कर्नाटक इक देस उदार, तहां पचीसौ जिनालै सार।
नगर मांहि अर गिर पै जोय, निति त्रिकाल तहं पूजन होय।।
नगर मांहि उस देश मझार, धरम ध्यान बरतें इक सार।
तहां मिथ्याति लख्यौ न कोय, नित्य धरम के उत्सव होय।।

नथमल की दासभक्ति:—

रीतिमल के शृगारी वातावरण मे लिप्त जनमानस को अपने भक्तिभाव से प्रक्षालित करने की चेष्टा बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, हरीसिंह आदि अनेक जैन कवियो ने की थी। इस परम्परा मे भरतपुर के नथमल विलाला का योगदान भी सराहनीय है। नथमल विलाला ने विलावल, सोरठ, बसत, रामकली, सारंग आदि कई राग-रागनियो मे ४०-६० पद 'सेवक' उपनाम से लिखे है। इनके अधिकांश भक्तिपूर्ण पद ऋषभदेव, महावीर और पार्श्वनाथ तीनों तीर्थंकरो को सम्बोधित करके लिखे गए है। जिनभक्ति से वादिराज का कोढ़ नष्ट होना, सेठ धनञ्जय के पुत्र का विष उतरना तथा मानतुंग का बंधन-मुक्त होना आदि घटनाओं ने नथमल को जिन-शरण मे जाने की प्रेरणा दी है—

सरन तेरी आयो जिनराज, महिमा सुन हरषायो।
इन्द्र नरेन्द्र मुनेन्द्र नमैं तुम, सुमरौं जिन सुख पायो।।
वादिराज थुति करतै ही प्रभु, छिन मैं कोढ़ नसायो।
सेठ धनंजय स्तवन कीयो, ता सुत विष उतरायो।।
मानतुंग नें भक्ति करी जब, बंधन तुरत छुड़ायो।
इन्हैं आदि यह सभी सुनत ही, 'सेवग' मन ललचायो।।

'मैं हू दीन, तारक तुम साहिब' का सम्बन्ध रखने वाले नथमल अपने आराध्य के अनन्य भक्त रहे है। पुष्टि-मार्गियों की सी सर्वांग-सेवा का भाव उनमे भी विद्यमान है—

निस दिन तेरो ध्यान, मेरे काहू की नहिं कान।
और देव सौं प्रीति न जोड़ो, तुम ही सौं पहचान।

कर जुग जोरि चरन तुम पूजा, श्रवन सुनौं जिन वानी।
नेत्र जुगल करि रूप निहारौं, सीस नवाऊं श्रांन।
तीन जगत के स्वामी तुम हौ, तारन पोत समांन :
'सेवग' मन परतीति उपाई, जीय मैं करि सरधांन॥

दोषों को दूर करने की सतर्कता वैष्णव भक्तो की अपेक्षा जैन भक्तों मे अधिक रही है। जिनेन्द्र की भक्ति-भावना मे आकंठ निमग्न रहने के आकांक्षी नथमल कषायों के नियन्त्रण सम्यक्त्रय की धारणा तथा जिनवाणी की अनुपालना के प्रति निरन्तर सचेष्ट है---

समझि सयाने हो लाल।

नरभव कुल श्रावक कौ पायौ, श्रापौ क्यौं न संभाल।
क्रोध मान मद मोह विषै छकि, रिज श्रातम लौं गाल।
नरक मांहि तू जाइ परैगो, नाना दुख तोहि साल।
दरसन ग्यांन चरन चित धरिकैं, जिन वानी जो पाल।
तौ सूधो सिवपुर कौ पहुंचै, मुकतिवधू बरनाल।
श्रीगुरु सिष्या यौ बतलाई, जो इस मारग चाल।
फेर न भरमैं जग में भाई, 'सेवग' कहै दरहाल।

'सेवक विलास' मे सग्रहीत पदो के अतिरिक्त नथमल की एक अन्य रचना 'भक्तामर स्तोत्र भाषा' हिन्डौन मे स्थित महावीर जी के मन्दिर से अभी प्राप्त हुई है। मानतुगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र से प्रभावित होने के कारण इस काव्य की भाषा परिनिष्ठित है, किन्तु उसमे माधुर्य एवं तन्मयता देने वाली लय सर्वत्र विद्यमान है। अन्य देवो की अपेक्षा वीतरागता ज्ञान और द्युति जिनेन्द्र प्रभु मे कवि ने अधिक देखी है—

लोकालोक प्रकाश ज्ञान है, जो तुम मांही।
हरि हर श्रादिक देव विषै, सो किंचित नाही।
जो प्रचंड दुति धरै, महामणि श्रति छबि बारी।
कांच खंड के मांहि, सोज दुति कहा तिहारी॥२०
हरि हर श्रादिक देव दोष मैं, भलो ज मांन्यौ।
वीतराग तुम रूप जिन्हौं, लखि कै पहिचान्यौ।
तुम सरूप कौं देखि चित्त, तुम मांही लुभावै।
श्रन्य मनोहर रूप, भवांतर मैं न सुहावै॥२१

समवशरण मे स्थित तीर्थंकर की छवि का भक्त नथमल ने कई छन्दों मे बड़ा मनोरम चित्र खींचा है। सभी दास्य भक्तो की तरह नथमल आराध्य की नाम महिमा को भी निष्ठापूर्वक प्रस्तुत करते है—

प्रलय पवन करि उठी श्रगिन, ता सम भयकारी।
निकसत सिषा फुलिंग, निरन्तर जलत दुषारी।
किधौं जगत सब भसम करैगी, सनमुख आवत।
नाम नीर तुम लेत अगिन सो, वेग नसावत॥

सवत् १८१८ वि० से सवत् १८४८ वि० तक तीन दशको मे भरतपुर, हिन्डौन और करौली तीनो स्थानों पर सभी काव्यरूपो और विभिन्न छन्दो मे काव्य रचना करने वाले नथमल विलाला ब्रजभाषा और ब्रज संस्कृति के कुशल चित्रकार है।

रीतिकाल मे लिखित अपार जैन साहित्य का अपेक्षित मूल्यांकन हिन्दी साहित्य के इतिहास को अमूल्य निधि होगा।

११०-ए, रणजीत नगर, भरतपुर (राज०)

मन्दिर भिक्षुकों के लिए नहीं

जैन धर्म एक विज्ञान है—कारण-कार्य सिद्धान्त पर वह अवलंबित है। जैसा बोओगे वैसा फल पाओगे, किन्तु आज जैनी धर्म विज्ञान को भूल गये हैं—वे धन के लिए, पुत्र के लिये, यश के लिये मन्दिरों मे मनौती मनाते हैं। बैरिस्टर (चम्पतराय) साहब ने इस पर कहा था -- "जैन मंदिरों में भिक्षा मांगने की जरूरत नही है--जैन मन्दिर भिखारियो के लिये नही है। जो मोक्षाभिलाषी हों निर्ग्रन्थ होना चाहते हों उन्ही के लिये जैन मंदिर लाभकारी है।" (स्व० बा० कामता प्रसाद)

महाराष्ट्र में जैन धर्म

□ डॉ० भागचन्द्र भास्कर डी. लिट्.

महाराष्ट्र दक्षिण भारत का प्रवेशद्वार है। इसका इतिहास बड़ा प्राचीन है। कुन्तल अश्मक और दक्षिणापथ शब्द इतिहास मे विश्रुत हैं जिनसे महाराष्ट्र के इतिहास का सम्बन्ध रहा है। साधारणतः सेतु से नर्मदा पर्यन्त सारा प्रदेश दक्षिणापथ कहा जाता था।[1] सेतु का संदर्भ कदाचित् कृष्णा नदी से रहा होगा जो महाबलेश्वर (महाराष्ट्र) की पहाड़ियों से उद्भूत दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। महाभारत (सभा ६-२०) मे कृष्णवेण्या का उल्लेख है पर शायद यह नदी कृष्णा नदी से भिन्न रही होगी। अतः नर्मदा और कृष्णा के मध्यवर्ती भूभाग को दक्षिणपथ कहा जा सकता है जिसमे महाराष्ट्र कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेशों को अन्तर्हित किया जाता है। शेष भाग सुदूर दक्षिण की सीमा में समाहित हो जाता है।

'महाराष्ट्र' शब्द का उल्लेख प्रदेश के रूप में न तो वेदों मे मिलता है और न रामायण महाभारत में, पर इसे पुराणो तथा जैन-बौद्ध ग्रन्थो में अवश्य देखा जा सकता है। उसकी सीमा यद्यपि परिवर्तित होती रही है फिर भी विदर्भ, अपरान्त (कोंकण, विशेषत: उत्तरभाग) और दण्डकारण्य ये तीन भाग माने जाते हैं। वर्तमान महाराष्ट्र मे दण्डकारण्य को छोड़कर शेष दो भाग सम्मिलित हैं। चालुक्य सम्राट सत्याश्रय पुलकेशी द्वितीय महाराष्ट्र का सार्वभौमिक राजा था।[2] नानाघाट, भाजे, कार्ले, कन्हेरी आदि शिलालेखो में महाराष्ट्रियन पुरुषों के लिए महारठि और स्त्रियों के लिए महारठिनी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे महाराष्ट्र का अस्तित्व प्रमाणित होता है। प्रादेशिक विस्तार की दृष्टि से तो इसे महाराष्ट्र कहना स्वाभाविक है पर उसे महार अथवा नाग जाति से संबद्ध करने की भी प्रबल सम्भावना बन जाती है।

महाराष्ट्र में जैनधर्म कदाचित प्रारम्भिक काल से ही रहा है। कहा जाता है, इतिहास के उदयकाल में भारत में मनुष्य जाति के तीन समुदायों मे से एक समुदाय दक्षिण और पूर्व के अधिकांश पर्वतीय प्रदेशों मे सीमित था जो कला कौशल और औद्योगिक क्षेत्र मे विशेष प्रगतिशील था। नाग, यक्ष, वानर आदि अनेक समुदायो-कुलो मे विभाजित यह समुदाय कालान्तर मे विद्याधर के नाम से विश्रुत हुआ। इसी को द्रविड़ भी कहा जाने लगा। आदि पुरुष तीर्थंकर ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम भी द्रविड़ था। सम्भव है' विद्याधर जाति से घनिष्ठ जाति सम्बन्ध स्थापित कर वे विद्याधरो के साथ ही बस गये हो और उन्ही के नाम से उस भाग को द्रविड़ कहा जाने लगा हो। जैन साहित्य मे विद्याधर सस्कृति के बहुत उल्लेख मिलते हैं। महावश के अनुसार भी श्रीलका मे बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व यक्ष संस्कृति का अस्तित्व था। वृहत्कथा मे विद्याधर और जैन संस्कृति का सुन्दर वर्णन मिलता है। महाराष्ट्र मे शातवाहन कालीन भाजें गुफा मे एक भित्ति चित्र मिला है जिसे विद्याधर से सम्बद्ध माना गया है।[3]

३१२ ई० मे उज्जैनी को उपराजधानी बनाकर[4] चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिणापथ की विजययात्रा सौराष्ट्र से प्रारम्भ की जहाँ उसने जूनागढ़ मे सुदर्शन झील का निर्माण किया। गिरिनार पर्वत पर तीर्थंकर नेमिनाथ की वन्दना की और मुनियो के आवास के लिए एक चन्द्रगुफा बनावाई। वहाँ से उसने महाराष्ट्र, तमिल और कर्नाटक प्रदेश पर आधिपत्य किया और उज्जैनी वापिस आ गया।[5] यही कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु भी ससघ पहुंचे और अपने निमित्तज्ञान से बारह वर्षीय दुर्भिक्ष की आशंका जानकर उन्होंने दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था। दुर्भिक्ष की बात जानकर चन्द्रगुप्त ने २९८ ई० पू० में भद्रबाहु से जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर ली और विशाखाचार्य नाम से अभिहित हुआ। सारा संघ महाराष्ट्र मार्ग से श्रवणबेल-

गोल पहुंच गया जहां भद्रबाहु ने कटवप्र पर्वत पर सल्लेखना ग्रहण की और संघ के नेतृत्व का भार चन्द्रगुप्त (विशाखाचार्य) पर छोड़ दिया। चन्द्रगुप्त ने दक्षिणवर्ती सारे देशों में जैनधर्म का प्रचार किया और अन्त में श्रवणवेलगोल में ही सल्लेखना पूर्वक मरण किया।[६]

इस घटना के पुरातात्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध नहीं होते पर साहित्यिक प्रमाणो की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्णाटक और तमिल क्षेत्र में लगभग उसी काल में जैनधर्म का अस्तित्व मिलता है इसलिए इस समूची घटना को ऐतिहासिक माना जाना चाहिए। श्री लंका में भी इसी काल में जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। पाण्डुकाभय राजा (३३७—३०७ ई० पू०) ने अनुराधापुर में जोतिय निर्ग्रन्थों के लिए एक चैत्य बनवाया। इसका उल्लेख महावश में आया है। वही गिरि नामक निर्ग्रन्थ भी रहता था।[७]

चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की यह घटना तथा श्रीलका मे जैनधर्म का अस्तित्व इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है कि महाराष्ट्र में जैनधर्म ई० पू० द्वितीय-तृतीय शती में काफी लोकप्रिय हो गया था अन्यथा ये दोनों महापुरुष इतने बड़े संघ को दक्षिण में एकाएक ले जाने का साहस नहीं करते। पूना के समीपवर्ती ग्राम पाले में एक प्राचीनतम गुहाभिलेख भी मिलता है जिसका प्रारम्भ नमो अरहतानम्' से होता है। पूरा अभिलेख इस प्रकार है—

(१) नमो अरहंतानं कानुन (.)
(२) द भवंत इंदरखितेन लेन
(३) कारापित (.) पोढि च साहाकाहि
(४) सह।

ऐसा मंगलाचरण मथुरा के आयागपट्ट, जैन मूर्तिलेख व उदयगिरि के अभिलेख में भी मिलता है। इनका समय ई० प्रथम है। इसमें इन्द्ररक्षित का भी नाम है।[८]

विदर्भ महाराष्ट्र का प्राचीनतम और प्रमुखतम भाग रहा है। वृहदारण्यकोपनिषद् में वैदर्भी कौण्डिल्य ऋषि का नाम आता है। रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) महाभारत (वन पर्व ७.३.१) हरिवंशपुराण (६०.३२) तथा जैन साहित्य (समवायांग, ९.२३२.१; सूयगडांग चूर्णि, पृ० ८० आदि) में विदर्भ के पर्याप्त उल्लेख आते हैं। विमलसूरि के पउमचरियं मे विदर्भ के एक पर्वत रामगिरि का सुन्दर वर्णन मिलता ही है।[९] यह रचना प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए। रामगिरि निश्चित ही रामटेक (नागपुर जिले का) है।[१०] यहा आज भी लगभग ११–१२वीं शताब्दी के जैन मन्दिर हैं। तीर्थंकर शांतिनाथ की भव्य प्रतिमा यहां विराजमान है। इस काल के कुछ प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध है। सम्भवत: इसके पूर्व का पुरातत्व भूगर्भ मे छिपा होगा। पउमचरिय मे राम द्वारा रामगिरि पर चैत्य निर्माण करने का वर्णन उपलब्ध होता ही है। हरिवंशपुराण में भी इसका वर्णन मिलता है।

कलिंग खारवेल (राज्याभिषेक) १६६ ई० पू०) का हाथीगुंफा शिलालेख भी इस सदर्भ मे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है कि सातवें वर्ष में कलिंग खारवेल की बज्रगृह की रानी को मातृपद मिला—

"अनुग्रह-अनेकान्ति सतसहसानि विसजति पारे जनपद [।।] सतम च बसं [पसा] सतो वजिरघर······ स मातुपदं [कु] ··· म [।] अठमे च वसे महतासेन [।।] गोरधगिरि······।"

इसी शिलालेख की चतुर्थ पंक्ति में कहा गया है कि खारवेल की सेना कृष्णवेणा (कण्हवेणा) नदी पर्यन्त पहुंची।[११] महाभारत (९.२०) में उल्लिखित कृष्णवेणा भी शायद यही कृष्णवेणा होगी। डॉ० मिराशी ने इस कृष्णवेणा की पहिचान नागपुर की समीपवर्ती कन्हान या वैनगंगा नदी से की है। वजिराघर गांव रायबहादुर हीरालाल के मत से चांदा जिले का वैरागढ़ होना चाहिए। पंक्ति छह में रथिक और भोजक का उल्लेख है। इनका सम्बन्ध क्रमशः खानदेश (नासिक, अहमदनगर, पूना) एव विदर्भ से माना जाता है। जैसा वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दानपट्ट से स्पष्ट है, भोजकट प्रदेश में विदर्भ का एलिचपुर जिला सम्मिलित रहा है।[१२] महाराष्ट्र के काफी भाग पर कलिंग का आधिपत्य रहा है, यह उपर्युक्त उल्लेखों से असदिग्ध है।

पुरातात्विक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र मे मध्यकाल मे जैनधर्म की सुदृढ़ स्थिति थी। नागपुर एलिचपुर, चांदा, वर्धा अमरावती, वाशिम, भडारा आदि स्थानों पर प्राचीन जैन मूर्तिया,

अभिलेख, वास्तुशिल्प आदि पर्याप्त परिमाण मे भूगर्भ से उत्खनन में प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य के दिग्दर्शक हैं कि अभी भी न जाने कितनी जैन सांस्कृतिक संपदा जमीन के नीचे छिपी पड़ी है। यहा उत्खनन अभी बहुत शेष है। जो भी हुआ है उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में बहुत फला-फूला है।

नागपुर का समीपवर्ती ग्राम केलझर लगता है, जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहां से जैन उपासक की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। वृषभदेव आदि की भी कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो लगभग ११वीं शती की होनी चाहिए। नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा संचालित १९६७ के उत्खनन म पवनार (वर्धा जिला) से भी दो प्रस्तर जिनमूर्तिया प्राप्त हुई है जिनका समय सातवी-आठवी शताब्दी माना जा सकता है। पवनी (वाकाटक) राजधानी प्रवरपुर है।[१३]

भंडारा जिले के पदमपुर गांव मे सप्तफणधारी पार्श्वनाथमूर्ति तथा अन्य जिन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। जो उत्तर-मध्यकाल की प्रतीत होती है। देव-टक (चादा से ६९ मील दूर) मे एक प्राचीनतम अभिलेख मिली है[१४]। जिसमें अहिंसा का उपदेश दिया गया है। रायबहादुर हीरालाल ने इसे अशोक के शिलालेखो से मिलान किया है और ई० पू० तृतीय शताब्दी का ठहराया है।[१५] लिपि के आधार पर वैसे इसे कलिंग के साथ भी बैठाया जा सकता है। कलिंग का सम्बन्ध विदर्भ से रहा भी है। जनरल कनिघम और प्रयागदत्त शुक्ल के उल्लेखो से भी पता चलता है कि चादा जिले मे जैन मन्दिर और मूर्तिया प्राचीन काल में विद्यमान थी।

बुलढाना जिले के सातगाव में उपलब्ध जैन मूर्तियां वहां की प्राचीनता की कथा बताती है।[१६] मेहकर और रोहिणखड भी इसो तरह एक अच्छे जैनकेन्द्र रहे होगे।[१७]

कारजा (अमरावती) भी मध्यकाल का एक अच्छा जैन केन्द्र था। यहा का समृद्ध ग्रन्थ भंडार इसका साक्षी है। अपभ्रंश महाकवि पुष्पदत का सम्बन्ध इस गांव से था। उनके अनेक ग्रन्थ यहां के भंडार मे उपलब्ध हुए है। यह स्थान बलात्कार गण का केन्द्र होना चाहिए। वैसे मलखेड़ मूल केन्द्र था जहां से उसकी दो शाखायें स्थापित हुई—कारजा और लातूर। इस गण के साथ सरस्वती-गच्छ का विशेष सम्बन्ध रहा है। समीपवर्ती अकोला जिले के खिनखिनी ग्राम में सरस्वती की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसके शिरोभाग मे जैनमूर्ति विद्यमान है। कारजा मे भी सरस्वती मूर्ति है। यहां का काष्ठ शिल्प भी उल्लेखनीय है।

अकोला जिले के शिरपुर स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का जैन मन्दिर उत्तर मध्यकाल के वास्तुशिल्प का अच्छा नमूना है। यहा प्राप्त एक संस्कृत शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण स० १३३४ (ई० सन् १४१२) मे हुआ था। इसी जिले के खिनखिनी गांव के कुएँ से अनेक जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई है—जिनके लेखों के आधार पर वे लगभग नवी शती की सिद्ध होती है। ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की सरस्वती सहित सपरिवार मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इनकी यक्ष मूर्तियां अपेक्षाकृत अधिक अलकृत है। प्राचीन तीर्थमाला में इसे एलचपुर के अन्तर्गत दिगम्बर सम्प्रदाय का गढ बताया गया है।[१८] अकोला के पास ही पातर गाव से प्राप्त एक और जैन लेख सन् ११८८ का मिला है जो वर्तमान मे नागपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है।

अमरावती जिले मे ही एक कुडिनपुर गांव है जिसका अधिपति महाभारत का भीम माना गया है।[१९] कालिदास ने इन्दुमती को विदर्भराज भोज की बहिन और विदर्भराज को कुण्डनेश कहा है।[२०] हरिषेण के बृहत्कथाकोष के अनुसार यह गांव प्राचीनकाल में जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र होना चाहिए।[२१] डा० दीक्षित द्वारा किये गये उत्खनन कार्य से भी यह तथ्य सामने आता है।[२२]

अचलपुर भी मध्यकाल मे जैन संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र रहा है। धनपाल ने अपनी "धम्म परिक्खा" यही पूरी की थी। हेमचन्द्र सूरि ने भी अचलपुर का उल्लेख करते हुए यह सकेत किया है कि यहा के निवासियों के उच्चारण में च और ल का व्यत्यय हो जाता है। आचार्य जयचन्द्रसूरि (नवी शती) ने अपनी धर्मोपदेशमाला में अचलपुर के अरिकेशरी नामक दिगम्बर जैन नरेश का उल्लेख किया है—"अयलपुरे दिगम्बर भत्तो अरिकेसरी

राजा।" यहां सप्तम शती का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। अचलपुर के पास ही लगभग ८ मील दूर मुक्तागिरि नामक जैन सिद्धक्षेत्र है। यद्यपि यह वर्तमान में बेतूल (म० प्र०) जिले के अन्तर्गत आता है पर यह मूलतः अचलपुर का ही भाग होना चाहिए। यह जैन ग्रन्थों मे मेंढागिरि (मेधागिरि) आदि नामो से जाना जाता है। आज भी यहां लगभग पचास जैन मन्दिर एक रम्य पहाड़ी पर अवस्थित हैं।

ये विदर्भ के प्रमुख जैन नगर हैं, जिनके उल्लेख जैन ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होते है। पुरातात्विक प्रमाणो से भी यह सिद्ध हो चुका है। इनके अतिरिक्त कुट्टी गोदिया आदि अनेक ऐसे भाग है जहाँ जैन पुरातत्त्व के प्रमाण उपलब्ध हो सकते है। भद्रावती (चांदा जिला) ऐसा ही नगर है जहां तीनो संस्कृतियों के पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यहा चीनी यात्री युवानच्वांग ६३९ ई० मे पहुंचा था। उस समय भद्रावती का राजा सोमवंशी सूर्यघोष था जिसने अनेक गुहामन्दिरों का निर्माण कराया। प्राचीन वैदिक वास्तुशिल्प के भी उदाहरण मिलते हैं। सरोवर के किनारे जैन मन्दिर भी हैं जिसके आसपास जैन पुरावशेष प्राप्त हुए है।

चांदवड़ या चद्रवट नगर का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसकी नीव यादववंशी राजा दीर्घपन्नार ने डाली थी। यहां ८०१ ई० से १०७३ ई० तक यादवों का राज्य रहा। इसी की समीपवर्ती चार हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर रेणुका देवी का मन्दिर है जो वस्तुतः जैन गुहा मन्दिर होना चाहिए, क्योंकि उसकी दीवार मे तीन तीर्थंकरो की मूर्तियां उत्कीर्ण है। जैन साहित्य मे चांदवड का प्राचीन नाम चन्द्रादित्यपुरी मिलता है।

विदर्भ के समान अपरान्त और दक्षिणी भाग मे भी जैन धर्म काफी लोकप्रिय रहा है। औरंगाबाद से १४ मील दूर चरणाद्रि शैल गुफा मन्दिरों के लिए विख्यात एलौरा ग्राम है जिसे इतिहास मे एल्डर इल्वलपुर अथवा एलागिरि के नाम से जाना जाता है। यहां जैन बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों का वास्तुशिल्प दिखाई देता है। इस गांव की स्थापना इन्चिपुर के राजा यदु ने आठवी शती में की थी। एलाचार्य कुन्दकुन्द से यदि इसे सम्बद्ध माना जाये तो एलोरा का काल लगभग प्रथम शती सिद्ध हो जाता है। पर इस बीच का कोई इतिहास उपलब्ध नही होता। राष्ट्रकूट वंश जैनधर्म का सरक्षक रहा है। महाराष्ट्र के कुछ भाग पर भी उनका अधिकार था। उनकी एक शाखा लातूर में स्थापित हुई जो ६२५ ई० मे एलिचपुर (अचलपुर) मे स्थानातरित हो गई। इसका प्रथम ज्ञात शासक दन्तवर्मन् वातापी चालुक्यों का करद सामंत था। उसके उत्तराधिकारियो मे दन्तिदुर्ग ने ७४२ में एलोरा पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। धर्मोपदेशमाला (८५८ ई०) से भी ज्ञात होता है कि समयज्ञ नामक एक जैन मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलोरा के दिगम्बर जैन मन्दिर मे रुके। यही से दन्तिदुर्ग ने नासिक को अपने अधिकार मे किया, वातापी चालुक्य का अंत किया और कोशल, मालवा आदि देशो के राजाओं को भी पराजित किया। उसने चिन्नकूटपुर के श्रीवल्लभ राहप्पदेव को भी हराया, जिसका भाई वीरप्पदेव वीरसेन नाम से पचस्तूपान्वयी मुनि के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे राष्ट्रकूट राजधानी के ही समीपवर्ती वाटनगर मे आ बसे और वही के चन्द्रप्रभु जैन मन्दिर तथा चामरलेण के गुहामन्दिरों मे अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव के शासनकाल मे ही उन्होने जयधवला महाधवला जैसे महाग्रन्थो की रचना की।

एलोरा की अन्तिम गुफा कैलाश जैन गुफा है जो चरणाद्रि पर्वत के उत्तरी भाग मे है। उसके दो भाग उत्खनन से प्रकाश मे आए है—इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा। इन्द्रसभा बारह खभों पर खड़ा दो माजल का एक मन्दिर है जिसे २०० फीट नीचे पर्वत काटकर बनाया गया है। इसमे दाईं ओर एक सुन्दर हाथी बना है। बरामदे मे हाथी सहित इन्द्र की मूर्ति है जो वास्तुशिल्प का बेजोड़ नमूना है। कला की दृष्टि से इन्द्रसभा सर्वोत्तम भाग है। जगन्नाथसभा इन्द्रसभा से छोटा भाग है जिसमे महावीर की मूर्ति विराजमान है। ऊपर के भाग मे सोलह फुट की पार्श्वनाथ प्रतिमा है। इस गुफा मे प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इसका समय आठ से तेरहवी शती तक ठहराया जा सकता है। ९वी-१०वी शताब्दी के कुछ लेखों मे यहां नागनंदि, दीपनंदि आचार्यों तथा उनके शिष्यो

के नाम उल्लिखित हैं। यहां का एक अन्य लेख राष्ट्रकूट राज्यकाल के बाद का १३वीं शती का है जिसमे गुहा-मन्दिर निर्माता चक्रेश्वर की बड़ी प्रशंसा की गई है।

एलोरा पहाड़ी का सम्बन्ध चारणो से रहा होगा। दक्षिण मे एक तिरुच्चनत्तुमलै नाम की एक और पहाड़ी है जिसका भी सम्बन्ध चारणो से जोड़ा गया है। ये चारण कौन होंगे ? यह प्रश्न अभी भी समाधान की अपेक्षा रखता है। लगता है, दक्षिण प्रदेश विद्याधरो का स्थान रहा है इसलिए उनको ही चारण कहा गया है। उन्ही विद्याधरों के विविधरूप यक्ष-यक्षी, चौमुखी देवियां, गजलक्ष्मी, अम्बिका आदि के रूप मे उकेरी गयी हैं जो काफी परिमाण में यहां मिलते हैं।

दन्तिदुर्ग के बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकाल वर्ष शुभतुंग सिंहासन पर बैठा जिसने दक्षिणी कोकण में शिलाहार सामंतो को नियुक्त किया। उसी ने पर्वत काट कर ७६६ ई० में यह कैलाश मन्दिर बनवाया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव की पत्नी चालुक्य राजकुमारी शीलभट्टारिका जैनधर्मावलम्बी और उच्चकोटि की कवयित्री थी।

सन्दर्भ-सूची

१. सेतु नर्मदा मध्य सार्धसप्तलक्षं दक्षिणापथं पालयामास विष्णुवर्धन अभिलेख, (Epi. Ind. Vel. IV page 305).

२. अगमदधिपातित्व यो महाराष्ट्रकाणाम् नवनति सहस्र ग्राम भाजां त्रयाणाम् (I.A.A.V. 8 P. 241).

३. प्राचीन महाराष्ट्र, डॉ० श्रीधर वेंकटेश केतकर भाग १, पृ० १९४।

४. देखिये, जूनागढ़ मे प्राप्त रुद्रदामन का अभिलेख।

५. अशोक शिलालेख तथा अमुलनार, परणार और श्रवणवेलगोल शिलालेख।

६. तिलोयपण्णत्ति, ४, १४, २१; श्रवणवेलगोल शिलालेख नं० १०८, हरिषेणकथाकोश १३१।

७. महावंश, पृ० ६७; देखिए लेखक का ग्रंथ Jainism in Buddhist Literature. प्रथम अध्याय।

८. Epigraphy of Indica, Vol. 38, p. 167.

९. रामेण जम्हा भवणोत्तमाणि जिणिन्द
चंदाण निवेसियाणि।
तथेव तुगे विमलप्पमाणि तम्हा जणे रामगिरी प्रसिद्धो॥
—चालीसवां पर्व

१०. डॉ० मिराशी, मेघदूत मे रामगिरि अर्थात् रामटेक, विदर्भ संशोधन मंडल, नागपुर।

११. अनुग्रह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरजनपदं[।] सतम च वसं [पसा] सतो वजिरघर·· स मातुकपदे [कु]···म[।] अठमे च वसे महता सेन [॥] गोरधगिरि······।

१२. Journal of the Royal Asiatic Society p. 329.

१३. के. एन. दीक्षित, Journal of Asiatic Society of Bengal, Numismatic Supplımate, ख 29, p. 159, संशोधन मुक्तावलि, मिराशी 2, page 177—187.

१४. संशोधन मुक्तावलि, मिराशी 1, p. 87.

१५. Incriptions in C.P. & Beror, 16, p. 15.

१६. वही २६४, पृ० १५५।

१७. वही, २६३, पृ० १५५; मोरेश्वर दीक्षित, पुरातत्व की रूपरेखा, पृ० २८। प्रयागदत्त शुक्ल, रविशकर शुक्ल अभिनदन ग्रंथ साहित्य खंड पृ० १४। विशेष देखिए—विदर्भ का जैन पुरातत्त्व, डॉ० चन्द्रशेखर गुप्त, जैनमिलन, दिसम्बर १९७०, पृ० ५७-५८।

१८. Epi. Indica, Vol. 8, p. 82.

१९. Ancient Jain Hymns. p. 28.

२०. अत्र पूर्वं अर्द्धच्छाला-परम-पुश्कल-स्थान-निवासिभ्य: भगवद् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवतभ्य: एको भाग: द्वितीऽर्हत् प्रोक्त सद्धर्म-कारण-परस्य श्वेतपट-भटाश्रमण-सघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघोपभागाय ······1 fleet, Sanskrit and old cannarese Inscriptions, 9. A. VII, p. 35; The Kadamba Kula, by George M. Moraes, p. 35.

२१. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, ९१-९६।

२२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख न. ६१, पृ. ३९।

२३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६१।

गिरिनगर की चन्द्रगुफा में हीनाक्षरी और घनाक्षरी का क्या रहस्य था ?

☐ प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन

षट्खण्डागम ग्रंथों और उनकी धवला टीका ग्रन्थों का प्रकाश प्रायः पचास वर्षों पूर्व फैलना प्रारम्भ हुआ। उनकी अवतरण कथा पढ़ी और सुनी गई किन्तु एक सारभूत रहस्य हीनाक्षरी और घनाक्षरी पर विचार विमर्श का अवसर नहीं आ सका। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि को उनके प्रथम शिष्य गौतम गणधर द्वारा गुंथा गया, द्वादशांग वाणी का यह रूप आचार्य परम्परा से क्रमशः हीन होता हुआ धरसेन आचार्य तक आया। उन्होंने महाकर्म प्रकृति-प्राभृत पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को किस प्रकार पढ़ाया इसका एक कथानक है।[1] उसकी पृष्ठभूमि मे यह भी तथ्य है कि षटखण्डागम ग्रन्थों पर आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, शामकुन्द, तुम्बुलूर एवं बप्पदेव ने जो टीकायें लिखी थीं वे अब अनुपलब्ध हैं।

आचार्यों की पवित्र परम्परा में भगवान् महावीर के ६१४ वर्ष पश्चात् आचार्य माघनन्दि के शिष्य आचार्य धरसेन पट्टासीन हुए थे। इन दोनों के कथानक प्रसिद्ध है। आचार्य धरसेन श्रुत के प्रति अत्यन्त विनयशील, निष्ठावान थे तथा वे अंग परम्परा के अन्तिम ज्ञाता माने गये। वे बड़े कुशल निमित्त ज्ञानी और प्रभावशाली मंत्र-ज्ञाता आचार्य थे। आचार्यपद ग्रहण करने के चौदह वर्ष पूर्व ही उन्होने "योनि प्राभृत" नामक मंत्र शास्त्र सबन्धी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना कर ली थी। कहा जाता है कि उन्हें मंत्र शास्त्र का यह ज्ञान कूष्माण्डिनी महादेवी से प्राप्त हुआ था। यह ग्रंथ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओं में अब अनुपलब्ध है पर इसका उल्लेख धवला मे प्राप्य है।[2]

आचार्य अर्हद्बलि के प्रमुख शिष्य माघनन्दि बहुत महान् श्रुतज्ञ थे। जंबू दीप पण्णत्ति के कर्ता आचार्य पद्मनन्दि ने उन्हें रागद्वेष एवं मोह से रहित, श्रुतसागर के पारगामी, मतिप्रगल्भ, तप और सयम से सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। आचार्य धरसेन इन्ही के शिष्य थे। पट्टावलियों में आचार्य माघन्दि के पश्चात आचार्य जिनचंद्र और उनके शिष्य के रूप मे आचार्य पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का उल्लेख किया जाता है। श्री धरसेनाचार्य अत्यंत विद्यानुरागी थे, जिनवाणी की सेवामे उनका अर्पित जीवन अंत तक एकाकी रहा। वे अन्य व्यामोहों से दूर रह जिनवाणी की अवशिष्ट धरोहर को हृदय में संजोये रहे और अंतिम दिनों उक्त आगम ज्ञान को लिपिबद्ध कराकर सुरक्षित करा लेने मे समर्थ सिद्ध हुये। उन्होने सुदूर गिरनार की गुफाओ को अपनी साधना स्थली बनाया था और अवशेष जिनागम की संपूर्ण सुरक्षा का ध्येय उन्होने बना लिया था। स्वाभाविक है कि उनकी यह प्रवृत्ति देख आचार्य माघनन्दि के इतर शिष्य आचार्य जिनचन्द्र ने पट्टासीन होकर अपने शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा अपनी सघनायक परम्परा को निरंतर अनवरत रखने का उपक्रम किया होगा।

गिरि नगर की प्रकाशवान चंद्र गुफा—

अल्प आयु से रह जाने पर आचार्य धरसेन ने कुशल निमित्त ज्ञान बल से अपना सुझाव महिमा नगरी मे हो रहे दिगम्बर साधुओ के विशाल सम्मेलन को प्रेषित किया होगा। संभवतः प्रत्येक पाचवे वर्ष 'युग प्रतिक्रमण' के रूप में होने वाला यह सम्मेलन उस वर्ष महिमा नगरी में अपने उस सन्देश को प्रोज्ज्वलित न कर हीनाक्षरी और घनाक्षरी विद्याओं द्वारा उक्त अवशिष्ट आगमांश को सुरक्षित रखने के अभिप्राय को समझ गया होगा। उन्होंने आचार्य श्री धरसेन के संदेश को पूरा सम्मान दिया, उन्हें भक्ति पूर्वक स्मरण किया, उनके आलेख को गुरु आज्ञा के समान स्वीकार किया। तदनुसार उक्त मुनि समुदाय ने अपने मध्य अत्यन्त शील श, कु० जाति से शुद्ध, सकल कलाओ मे पारंगत, क्षमतावान, धैर्यवान, विनम्र, अटल

श्रद्धायुक्त दो विद्वान साधुओं को इस महानतम कार्य के लिए निर्वाचित किया। दो मुनि और दो विद्याये इस कार्य को सम्पन्न करने में लगी होंगी।[३]

जब ये मुनि युगल, पुष्पदंत और भूतबलि जो इस नाम से बाद में प्रसिद्ध हुये, अविलम्ब गिरनार की चद्र गुफा की ओर प्रस्थित हुए है। उधर पहुंचने को हुए तब उसी पूर्व रात्रि मे आचार्य धरणे ने स्वप्न देखे स्वप्न मे भी दो धवल एव विनम्र बैल आकर उनके चरणों में प्रणाम कर रहे थे। स्वप्न देखते ही आचार्य श्री की निद्रा भंग हुई और 'जयउ सुददेवता'—"श्रुत देवता जयवन्त हो" कहते हुए उठे। उसी दिन ही उक्त दोनो साधु आचार्य श्री धरसेन के पास पहुचे। अति हर्षित हो उनकी चरण-वन्दनादिक कृति कर्म कर उन्होने दो दिन का विश्राम किया। तीसरे दिन उन्होने अपना प्रयोजन आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत किया। आचार्य श्री भी उनके वचन सुनकर प्रसन्न हुए और "तुम्हारा कल्याण हो" ऐसा आशीर्वाद दिया।

आचार्य श्री के मन में विचार आया होगा कि पहिले इन दोनो नवागत साधुओ की परीक्षा करनी चाहिए कि वे श्रुत ग्रहण और धारण करने आदि के योग्य भी है या नही क्योंकि स्वच्छन्द-विहारी व्यक्तियो को विद्या पढाना ससार और भय को बढ़ाने वाला होता है। यह विचार कर उन्होने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। तदनुसार आचार्य श्री धरसेन ने उक्त दोनो साधुओं को दो मत्र विद्यायें साधन करने के लिये दी।[४] उसमे से एक मन्त्र विद्या हीन अक्षर वाली थी और दूसरी अधिक अक्षर वाली। दोनों को एक-एक मन्त्र विद्या देकर उन्होने कहा कि इन्हें तुम लोग षष्ठोपवास (दो दिन के उपवास) से सिद्ध करो।[५] दोनों साधु गुरु से मन्त्र विद्या लेकर भगवान् नेमिनाथ के निर्वाण होने वाले शिला पर बैठकर मन्त्र साधने लगे। मन्त्र साधना करते हुए जब उनको वे विद्याएं सिद्ध हुयीं, तो उन्होने विद्या की अधिष्ठात्री देवताओं को देखा कि एकदेवी के दांत बाहिर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है।[६]

देवियों के ऐसे विकृत अंग देखकर उन दोनो साधुओं ने विचार किया कि देवताओ के तो विकृत अग होते नही हैं। अत: अवश्य ही मंत्र मे कही कुछ अशुद्धि होना चाहिए। इस प्रकार उन दोनों ने विचार कर मत्र सबन्धी व्याकरण (वि+आकरण) शास्त्र मे कुशल उन्होने अपने अपने मंत्रों को शुद्ध किया और जिसके मंत्र मे अधिक अक्षर थे उसे निकाल कर। तथा जिसके मत्र में अक्षर कम थे। उसे मिलाकर उन्होने पुन: अपने-अपने मंत्रों को सिद्ध करना प्रारम्भ किया।

तब दोनों विद्या-देवियाँ अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप मे प्रकट हुई। वे बोली, "स्वामिन आज्ञा दीजिये, हम क्या करे। तब इन दोनो साधुओ ने कहा, आप लोगों से हमे कोई ऐहिक या पारलौकिक प्रयोजन नहीं है। हमने तो गुरु की आज्ञा से यह मत्र साधना की है ! यह सुनकर वे देवियाँ अपन स्थान को चली गयी। मत्र साधना से प्रसन्न होकर वे आ. धरसेन के पास पहुचे और उनकी पाद वन्दना करके विद्या-सिद्धि सम्बन्धी समस्त वृतांत निवेदन किया। आचार्य धरसेन अपने अभिप्राय की सिद्धि और समागत साधुओकी योग्यता देखकर बहुत प्रसन्न हुए, 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होने शुभतिथि, शुभनक्षत्र और शुभ वार में ग्रथ का पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार क्रम से व्याख्यान करते हुए आ. धरसेन ने आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल मे ग्रथ समाप्त किया। विनय पूर्वक इन दोनों साधुओ ने गुरु से ग्रथ का अध्ययन सम्पन्न किया है, यह जानकर भूतजातिके व्यन्तर देवों ने उन दोनो मे से एक की पुष्पावली से शख तूर्य आदि वाद्यों को बजाते हुये पूजा की। उसे देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'भूतबलि' रखा। तथा दूसरे साधुकी अस्त-व्यस्त स्थित दंत पंक्ति को उखाड़ कर समीकृत करके उनकी भी भूतों ने बड़े समारोह से पूजा की। यह देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'पुष्पदन्त' रखा।

अब हम उपर्युक्त कथानक को वैज्ञानिक परिदृष्टि से विश्लेषण करना चाह सकते हैं। द्वादशांग श्रुत के १२वें दृष्टिवाद अग के पाच भेद है, उनमें चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेद है। उन भेदो मे से दूसरा भेद अग्रणीय पूर्व है जिसमे १४ वस्तुये हैं जिनमें पाचवी वस्तु चयनलब्धि के २० प्राभृत हैं। उनमें से चौथे कर्म प्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोगद्वार है जिनमें से पहले और दूसरे अनुयोग द्वार से प्रस्तुत षट्खण्डागम का चौथा वेदना खड निकला है। बधन नामक छठे अनुयोग द्वार से चार भेदों में से प्रथम

भेद बंध से, तथा तीसरे, चौथे और पांचवें अनुयोगद्वार से पांचवां वर्गणाखंड निकला है। बन्धन अनुयोगद्वार के तीसरे बन्धक भेद से दूसरा खंड खुद्दाबंध निकला है। इसी अनुयोगद्वार के बंध विधायक नामक चौथे भेद से महाबध नाम का छठा खण्ड निकला है। इसी प्रकार बन्धन नाम छठे अनुयोगद्वार के बंध विधान नामक चौथे भेद से बन्ध स्वामित्व विचय नामका तीसरा खड और जीवस्थान नामक प्रथमखंड के अनेक अनुयोगद्वार निकले है।

अतः महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीस अनुयोग द्वारो मे से भिन्न-भिन्न अनुयोग द्वार एव उनके अनन्तर अधिकारों से षट्खण्डागम के विभिन्न अगों की उत्पत्ति हुई हैं। इसका नाम खण्ड आगम पड़ा जिसमे छः खड क्रमशः जीव स्थान, खुद्दाब्ध, बंध स्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध है।

हीनाक्षरी और घनाक्षरी का रहस्य—

यह सर्व विशाल रचना, उसकी विभिन्न टीकाये और उनके सार ग्रन्थो की टीकायें क्या इगित करती है। इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। केशववर्णीकृत "गोम्मटसार की कर्णाटक वृत्ति' पर विशेष ध्यान देना है। उसके पूर्व संत कम्म पंजिया तिलोयपण्णत्ती, धवला-टीका आदि पर भी विशेष अध्ययन आवश्यक है।

यदि यह मानकर हम चलें कि हीनाक्षरी और घनाक्षरी मत्र विद्याये मात्र हीनाक्षरी एव घनाक्षरी ऐसी दो विद्यायें थी* जिनका उपयोग उन्हें आगम अंश को अवतरित करने में करना था तो क्या प्रयोजन निकलता है ? हीनाक्षरी का अर्थ हीन अक्षर वाली और घनाक्षरी का अर्थ घन या अधिक अक्षर वाली निकाला जाता है। यदि हीन अक्षर वाली कोई विद्या है तो उसका क्या उद्गम होगा और क्या प्रयोजन हो सकता है, तथा उसका क्या रूप हो सकता है? यह प्रश्न सहज ही उठता है। क्या षट्खंडागम की रचना में ऐसा कोई प्रयोग दिखाई देता है? महाबध मे अवश्य ही अनेक स्थानों पर अधूरे वाक्यांशो के आगे शून्य दिखाई देता है। तिलोयपण्णत्ती मे कई स्थानों पर हीन अक्षर युक्त प्रयोजन इस रूप में दिखाई देता है कि स्थान-स्थान पर अंकगणितीय एवं बीज तथा रेखा गणितीय प्ररूपण साथ साथ चलता है। ऐसा थोड़ा बहुत प्ररूपण संतकम्म पञ्जिया तथा धवल टीका में देखने को मिलता है। अंत में यह केशववर्णी की "गोम्मटसार की कर्णाटक वृत्ति" तथा मुनि नेमिचंद्र की गोम्मटसार की सस्कृत टीका एव पडित टोडरमल की गोम्मटसार एवं लब्धिसार की सम्यक्ज्ञान चद्रिका टीका के अर्थ सदृष्टि अधिकारों मे दिखाई देता है। यहां बीजो आदि के मध्य अथवा परिकर्माष्टक करण (गणित) के नियमों से गुंथी भाषा है। सूत्रबद्ध प्ररूपण मे व्याकरण के नियमों से गुंथी भाषा है जो घनाक्षरी कहलाई जा सकती है।

यदि इन हीनाक्षरी का दूसरा अर्थ निकालें तो यह हो सकता है, "अक्षरों के हीन अर्थ वाली"। यह भी ऐसी भाषा हो सकती है जिसमे अक्षरों से जो शब्द बनाये जाते हों उनका अर्थ बोध थोड़ा होता हो। इस प्रकार घनाक्षरी का दूसरा अर्थ निकालें तो यह हो सकता है, "अक्षरों के घन अर्थ वाली"। यह भी एक ऐसी भाषा हो सकती है जिसमे अक्षरो से जो भी वस्तु इगित या अभिप्रेत होती हो उनका अर्थ बोध घन या अधिक या गभीर होता हो। ऐसी दशा में प्रथम भाषा व्याकरण के नियम से बधी होगी और दूसरी भाषाकरण या परिकर्म के नियम से बधी होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ये दो प्ररूपण—व्याकरणीय तथा करणीय, दो विद्याओ के रूप मे दिगम्बर जैन आगम मे हमें उन टीकाओ मे दिखाई देते है जो उपलब्ध है। एक व्याकरण विज्ञान की भाषा है तो दूसरी करण (गणित) या परिकर्म विज्ञान की भाषा है। कथानक मे दो विद्याओं की सिद्धि को एक दैवी रूप दिया गया है किन्तु उनका कोई प्रयोजन होने की बात नही कही गई है। यह भी स्पष्ट है कि जो भी उक्त आगम को निबद्ध सूत्रों में, श्लोक आदि में करना, उसे इन विद्याओ मे पारगत होना चाहिए था। कारण कि इस महाकर्म प्रकृति प्राभृत विज्ञान मे वही दस माना जा सकता था जिसे न केवल व्याकरण का ज्ञान हो वरन् साथ ही करण या परिकर्म (गणित) का ज्ञान हो।

इसमे कोई सन्देह नही कि व्याकरणकी ओर ध्यान न देने वाला सही अर्थ उस प्रथम भाषा का नही निकाल सकता है, तथा करण की ओर ध्यान न देने वाले सही अर्थ उस द्वितीय भाषा का नहीं निकाल सकता है। इस प्रकार किसी एक के प्रति भी असावधान, यथार्थ अर्थ तक नही पहुंच सकता है। वह अशुद्धियो के झमेले मे पड़ सकता है। सूत्र निबद्ध करना तो बहुत दूर की बात है।

इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्या उक्त दोनों विद्वान् मुनियों ने अपने को इन हीनाक्षरी एवं घनाक्षरी विद्याओं में पारंगत न बनाया होगा ? फिर अपने को इनमे पारगत बनाकर क्या षट्खंडागम के दो रूप प्ररूपित न किये होंगे ? एक रूप तो हमारे सामने व्याकरणी है जो प्राकृत भाषा का है। यह पढ़ने और समझने में सरल है। किन्तु इसके यदि दूसरे रूप की बात आती है तो उसे हम केशव-वर्णी की कर्णाटक वृत्ति मे एक विशाल अप्रतिम अद्भुत करणीय या परिकर्माष्टक (गणितीय) रूप में देखते हैं। दोनों रूप क्यो आवश्यक प्रतीत हुए यह भी एक प्रश्न है। ऐसे दोनो रूपो मे क्या आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि ने रचना न की होगी—यह प्रश्न उठता है। साथ ही यह प्रश्न तब उठता है जबकि हम पंडित टोडरमल को सम्यक् ज्ञान चन्द्रिका टीका मे जुदे-जुदे रूप मे जुदी-जुदी जगह रखा हुआ पाते है। भाषा वचनिका के लिए तो व्याकरणीय भाषा उपयुक्त है किन्तु गहन सूक्ष्म अध्ययन के लिए संक्षिप्त करणीय या परिकर्माष्टक भाषा ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

इतिहास में यह कथानक इस प्रकार एक प्रश्नचिह्न लगा देता है। प्राचीनकाल उस युग मे लगभग उसी समय कीलयुक्त बेबिलनीय भाषा मे भी दो रूप देखने में आते है। उस समय का गणित ज्योतिष विज्ञान इसी प्रकार की दो भाषाओ मे लिखा गया है।' तब पुनः प्रश्न उठता है कि यदि व्याकरणीय रूप भाषा वाला षट्खंडागम हमे उपलब्ध है तो करणीय रूप या परिकर्माष्टक भाषा वाला षट्खंडागम कहां है ? यहां हमें संकेत मिलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। इसके गणितीय उल्लेखों का उद्धरण कई स्थानों में वीरसेनाचार्य की धवला टीका में आता है। इससे स्पष्ट है कि षट्खंडागम के अनेक प्रकरण *गोम्मटसार जैसे या लब्धिसार जैसे ग्रन्थों में आये अर्थ*-सदृष्टियो, अंक-संदृष्टियों एवं आकृतिरूप संदृष्टियों के रूप में होने की संभावना है, जो धवल के पूर्व की टीकाओं में उपलब्ध रहे होंगे और बहुत सम्भव है कि वह रूप अत्यधिक कठिन होने के कारण एक तरफ रख दिया गया होगा—युग-युगान्तरों में जब लेख प्रति बनाने वालों को अत्यधिक कठिनाई उन्हें साथ-साथ चलाने में प्रतीत हुई होगी, अनुभव मे आई होगी।

उक्त कथानक हमें इस ओर प्रेरित करता है कि व्याकरणीय भाषा नही वरन गहन अर्थ पाने हेतु हमे गणितीय भाषा को ग्रहण कर उसमें पारंगत श्रेष्ठ विद्वानों की एक ऐसी परम्परा का निर्माण कर दें जो उक्त कथानक के अनुरूप इस प्रकार की शोध मे जुट जाये। यही ध्येय लेकर यह आचार्य श्री विद्यासागर शोधसंस्थान स्थापित किया गया है कि हम अपने प्राचीन रहस्यों को शोध कर शोधी प्रतिभाशील विद्यार्थियों द्वारा अपनी परम्परा को सुरक्षित रख सकें और उस धरोहर से जनता को प्रतिबोधित करते रहें।

निदेशक (आचार्य श्री विद्यासागर शोध सस्थान)
५५४ सराफा (सूर्य इन्पोरियम) जबलपुर

सन्दर्भ-सूची

१. देखिये षट्खडागम, ब्र० पं० सुमतिबाई शाहा द्वारा संपादित, संस्करण १९६५, प्रस्तावना, १-११०। षट्खंडागम ग्रंथ के मूलग्रथकर्ता वर्धमान भट्टारक हैं। अनुग्रंथकर्ता गौतम स्वामी हैं और उपग्रथकर्ता रागद्वेष मोहरहित भूतबलि पुष्पदंत मुनिवर है। षट्खडागम पुस्तक १, पृ. ६७-७२। पुष्पदत द्वारा १७७ सूत्र, भूतबलि द्वारा ६००० सूत्र रचित हुए।

२. आचार्य धरसेन काठियावाड़ मे स्थित गिरनार (गिरनार पर्वत) की चन्द्र गुफा मे रहते थे। देखिये बृहट्टिपणिका जै. सा. सं. १-२ परिशिष्ट योनिप्राभृत वीरात् ६०८ वर्ष पश्चात् योनिप्राभृत की रचना की देखिये योनिप्राभृत का धवल में उल्लेख।

३. ये आन्ध्र देश के वेन्नातट से संबंधित थे।

४. श्रीमन्नेमि जिनेश्वर सिद्धि सिलयां विधानतो विद्या-संसाधनं विदधतोस्तमी पुरतः स्थिते देव्यौ ॥११६॥ (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)।

४. देखिये दो का अंक किस प्रकार यहां चल रहा है।

५. एकाक्षी।

७. कषायप्राभृत(कषायपाहुड) एवं षट्खंडागम की रचनाओं की तुलना के लिये "कषायपाहुड सुत्त" सम्पादनादि—पं. हीरालाल जैन, कलकत्ता। (शेष पृ० १६ पर)

सोनागिरि मन्दिर अभिलेख : एक पुनरावलोकन

□ डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए. पी-एच. डी.

सोनागिरि चन्द्रप्रभ जैन मन्दिर में चन्द्रप्रभ प्रतिमा की दोनों ओर पत्थर पर प्रशस्तियाँ अंकित हैं। प्रतिमा की दाईं ओर का लेख नागरी लिपि से हिन्दी भाषा में उत्कीर्ण है। इसमें तेरह पंक्तियाँ और उनमें चार दोहे हैं। आदि के तीन दोहे भट्टारक सम्प्रदाय नामक ग्रन्थ मे संग्रहीत है।[1] चौथे दोहे का दूसरा चरण प. बलभद्र जैन ने "पुन्यी जीवनसार" पढ़ा है।[2]

सम्पूर्ण मूल पाठ निम्न प्रकार है—

१. ॥ श्री ॥ दोहरा ॥ मदिर सह रा
२. जत भए चदनाथ जिन ई
३. स पौष सुदी पूनिम दिना ती
४. न सतक पैतीस ॥ ॥ मू
५. ल संघ अरगण कहौ बलात्
६. कार समूहाई श्रवणसेन अ
७. र दुसरे कनकसेन दुइ भाइ ॥
८. ॥२॥ बीजक अच्छिर वाचिकै ज
९. ······ सदुए रचाइ' और लिखो तौ व
१०. हुत सो सो नहि परो लषाइ ॥३॥
११. द्वादस सतक वरुत्तरा पुनि नि
१२ र्मापन सार पार्श्वनाथ चरण
१३. नि तरै तामो विदी विचार ॥४॥

दूसरा शिलालेख प्रतिमा की बाईं ओर अंकित है। अभिषेक के लिये सीढ़ियां इन्ही शिलालेखों के नीचे बनाई गई है। यह प्रशस्ति अब तक अप्रकाशित है। इसमे बाईस पंक्तियाँ है। आदि मे दो सोरठा और अन्त मे तीन दोहे है। सोरठा अंश तथा बाईसवी पक्ति अपठनीय है।

मूल पाठ निम्न प्रकार है—

१. श्री मणिचिरु
२. चंद्रनाथोय नम
३. वंश वुदेल·········
४. पारी छत महराज
५. तिया पनि बाढस दारि
६. फलफलै मन कि न
७. मनीराम जी संगि
८. पितु की आज्ञा पाइमं
९. चंपाराम (व) सेरु करि या
१०. त्रा सुषुदाइ वर ॥२॥ सवत
११. अष्टादस कहे तेरा
१२. सी की साल लाला
१३. लक्षिमीचंद ने पै
१४. री श्री जिनमाल ॥३॥
१५. प्रथम कियो प्रारंभ
१६. मुनि मदिर जीर्णो
१७. द्वार श्रावक हिय
१८. हरषित भए सब मि
१९. लि करी समार ॥४॥
२० विजयकीर्ति जिन सूरि के सि
२१. ष्य करै मतु सेषु परम सिष्य
२२. ·········देसे परिमे······

फाल्गुण सुदि १३

भावार्थ

तेरह पक्ति वाले प्रथम लेख में तीसरे दोहे से प्रस्तुत हिन्दी लेख किसी अन्य लेख का सारांश ज्ञात होता है। चौथे दोहे से यह भी ज्ञात होता है कि सवत् १२१२ में पार्श्वनाथ प्रतिमा के चरणो मे बैठकर पुनर्निर्माण की योजना बनाई गई थी। इससे सिद्ध है कि सवत् १२१२ मे इस लेख का मूलपाठ अपठनीय हो गया था। उसमें जो कुछ समझ में आ सका वह अंश प्रस्तुत लेख में दिया गया है।

दूसरे बाईस पक्ति वाले हिन्दी लेख में संवत् १८८३

के फाल्गुन मास की त्रयोदशी के दिन आयोजित उत्सव मे किन्हीं लाला लक्ष्मीचन्द्र के जिनमाल धारण किये जाने का उल्लेख किया गया है तथा बताया गया है कि इस समय सर्व प्रथम लाला लक्ष्मीचन्द्र ने मदिर के जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ किया था।

अभिलेख के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय तथ्य

(१) मूलपाठ : प्रस्तुत लेख जिस मूलपाठ को पढ़कर लिखा गया वह शिलालेख था या मूर्ति लेख यह खोज का विषय है, कोई प्रमाणिक निर्णय नही लिया जा सकता।

(२) संवत् १२१२ मे मन्दिर का पुनर्निर्माण।

(३) संवत् १२१२ मे पार्श्वनाथ-प्रतिमा का विद्यमान रहना।

शोधकण :

प्रथम लेख के प्रथम दोहे से यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है सोनागिरि पर तीथकर चन्द्रप्रभ की प्रतिमा सवत् ३३५ के पूस मास की पूर्णिमा के दिन मदिर मे प्रतिष्ठापित की गई थी।

क्या वर्तमान प्रतिमा चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की है ? यह एक विचारणीय तथ्य है। इसके लिए आवश्यक है वर्तमान प्रतिमा की पूर्ण जानकारी। ध्यातव्य विषय है—

(१) वर्तमान प्रतिमा की आसन पर तीर्थंकर परिचायक चिह्न का नहीं होना।

(२) प्रतिमा के शीर्ष भाग पर फणावलि का अवशेष।

(३) प्रतिमा के स्कन्ध भाग पर केश-राशि का अकन। इन विशेषताओ के परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान प्रतिमा मूल नायक चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा नही ज्ञात होती। मन्दिर के पुनर्निर्माण के समय सवत् १२१२ में वह प्रतिमा विद्यमान रही है। मन्दिर का पुनर्निर्माण कराते समय सम्भवतः अति जीर्ण अवस्था मे रहने के कारण या कार्य कर्ताओं की असावधानी के कारण चन्द्रप्रभ प्रतिमा खडित हो गई होगी। खण्डित-प्रतिमा पूज्य न रहने से उसे किसी जलाशय में विसर्जित कर दिया होगा। मूलपाठ भी सम्भवतः प्रतिमा की आसन पर अंकित रहा है। वर्तमान मे मूलपाठ से अंकित शिलाखंड का न मिलना ऐसा सोचने के लिए बाध्य करता है।

मन्दिर का पुनर्निर्माण होने के पश्चात् निर्माताओ ने सम्भवतः विघ्नहर पार्श्वनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी, जिसकी फणावलि भग्नावशेष के रूप में आज भी द्रष्टव्य है। अभिलेख मे संवत् १२१२ मे पार्श्वनाथ-प्रतिमा विद्यमान रही बताई गई है।

सवत् १८८३ मे इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया गया था। इस समय भी कोई अप्रत्यासित घटना अवश्य घटित हुई है। पार्श्वनाथ-प्रतिमा को इस मन्दिर से अन्यत्र कही स्थानान्तरित किया गया तथा वर्तमान प्रतिमा वहां प्रतिष्ठापित की गई।

यह प्रतिमा स्कन्ध भाग पर केश राशि के अकन से तीर्थंकर आदिनाथ की प्रमाणित होती है। कुण्डलपुर (दमोह) के बड़े बाबा की प्रतिमा भी ऐसी ही है। उस प्रतिमा के स्कन्ध भाग पर भी केशराशि अकित की गई है।

अपने-अपने समय की चन्द्रप्रभ और पार्श्वनाथ प्रतिमाएँ अन्वेषणीय है। आशा है विद्वान् अवश्य ध्यान देंगे।

सवत् १२१२ म आरम्भ किया गया मन्दिर का पुनर्निर्माण कार्य पूर्ण होने मे सम्भवतः एक वर्ष लगा था। पर्वत के नीचे मन्दिर क्रमाक १६ मे विराजमान मुनिसुव्रत तीर्थंकर प्रतिमा की आसन पर अकित लेख मे प्रतिमा-प्रतिष्ठा का समय संवत् १२१३ बताये जाने से सोनागिरि मे सवत् १२१३ मे प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ ज्ञात होता है जिसमे उक्त पुनर्निर्मित मन्दिर की एव नई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई थी। गोलापूर्व जैन इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे आये थे तथा उन्होने यहा प्रतिमा-प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिमा लेख निम्न प्रकार है—

(१) सवत् १२१३ गोल्लापूर्व्वान्वये साधु सोढे तत्पुत्र साधु क्षीलूण भार्य्या जिणा तयोः सुत साबु (साधु) वीलूण भार्य्या पल्हा सर्व्व।

२. जिननाथ नित्यं प्रणमति।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने यह निम्न प्रकार पढ़ा था—
"संवत् १२१३ गोल्लपल्लीवसे सा० साबू (साधु) सोढो

साधु श्री लल्लूभार्या जिणा तयो सुत साव् (धू) दील्हा भार्या पल्हासस जिननाथं सविनयं प्रणमन्ति" ।[1]

संवत् ३३५ के परिप्रेक्ष्य में विद्वानों के अभिमत—

पं० नाथूराम 'प्रेमी' ने संवत् ३३५ को संवत् १३३५ बताया है। उन्होंने हजार सूचक एक अंक बीजक पढ़ने वालों को अपठनीय रहा माना है।[3] प्रेमी जी की यह मान्यता तर्कसंगत नही है। सवत् १२१२ मे मन्दिर का पुनर्निर्माण कराये जाने से निश्चित ही चन्द्रप्रभ मन्दिर और प्रतिमा दोनो इस संवत् के पूर्व विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री की मान्यता भी विचारणीय है।

डा० शास्त्री ने बलात्कारगण जिसका उल्लेख सोनागिरि लेख में हुआ है, नववी शती के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे अनुपलब्ध होने से तथा प्रतिमा की रचना में प्राचीनता न होने से तीन सतक पैंतीस के स्थान मे एक सहस्र पैंतीस होने की सम्भावना की थी। उन्होंने अभिलेख के 'दिन' शब्द को रविवार का वाचक माना। वारेश के आधार पर काल गणना करने से भी पौष सुदी पूर्णिमा संवत् १०३५ मे तथा उसी दिन रविवार भी उन्हें प्राप्त हुआ था।[5]

अत: डा० शास्त्री की मान्यता उपयुक्त प्रतीत होती है। इस काल में जैन मन्दिर और प्रतिमाओं की अनेक प्रतिष्ठाएँ हुई है। अहार, और खजुराहो जैसे प्राचीन जैन धर्मस्थलों में सम्पन्न हुई प्रतिष्ठाएँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। संवत् ३३५ की अब तक कोई प्रतिमा प्राप्त नही हुई है। अत: यह काल तो निश्चित ही अशुद्ध है।

लेखों में 'न' के स्थान में अनुस्वार, रेफ के संयोग में वर्ण का द्वित्व, श के लिए स, ख के लिए ष का व्यवहार हुआ है।

—प्रभारी-जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी (राज०)

सन्दर्भ-सूची

१. भट्टारक सम्प्रदाय: जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापुर, ई० १९५८ प्रकाशन, लेखक ९४, पृ० ४१।

२. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हीराबाग, बम्बई-४ ई० १९७६ प्रकाशन, पृ० ६९।

३. भट्टारक सम्प्रदाय मे इस अपठनीय अंश मे "कियो सु निश्चय राय" अकित बताया है।

४. अनेकान्त, वर्ष २१, किरण १, पृ० १०।

५. जैन साहित्य और इतिहास, संशोधित साहित्यमाला बम्बई, ई० १९५६ प्रकाशन, पृ० ४३५।

६. अनेकान्त वर्ष २१, किरण १, पृ० १०।

(पृ० १६ का शेषांश)

८ १९५५, प्रस्तावना पृ. ?-६९ चूर्णिसूत्र में कषायपाहुड में भी रिक्तस्थानों की पूर्ति हेतु शून्य संदृष्टि उपयोग किया गया है। कषायपाहुड एव षट्खंडागम दोनों ही व्याकरणीय नियमों मे सूत्रबद्धरचित है। कषायपाहुड में कितनी ही गाथायें बीजपद स्वरूप हैं, जिनके अर्थ का व्याख्यान वाचकाचार्य, व्याख्यानाचार्य या उच्चारणाचार्य करते थे। कषायपाहुडकार को पांचवे पूर्व की दसवी वस्तुके तीसरे तेज्जदोस पाहुड का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। अति संक्षिप्त होते हुये भी वह सुसम्बद्ध क्रम को लिए है। यह रचना असदिग्ध, बीजपद युक्त, गहन और सारवान् संक्षिप्त रूप मे पदो से निर्मित है। वीरसेनाचार्य द्वारा जयधवल मे बप्पदेवाचार्य द्वारा निर्मित "लिखित तच्चारणावृत्ति" से क्या आशय है, महत्त्वपूर्ण है। "स्वलिखित उच्चारण" इससे अलग है। वह कोई संक्षिप्त व्याख्या है। अभी चूर्णि और जयधवल ही उपलब्ध है। उच्चारण वृत्ति, शामकुंडकृत पद्धति टीका और तुम्बुलूराचार्य कृत चूडामणि व्याख्या तथा बप्पदेवकृत व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति उपलब्ध होती है।

९. देखिये, ओन्युगेबाएर, "एस्ट्रानामिकल क्यूनिफार्म टेक्ट्स" भाग १, लदन १९५३, इस्टीट्यूट फार एडवान्स स्टडी, प्रिंसटन के लिए प्रकाशित)। इसी के अनुरूप गणितभाषा में इस लेख के लेखक ने लब्धिसारादि ग्रंथो को निरूपित कर चार भागों में प्रस्तुत किया है।

सुख का उपाय

□ पं० मुन्नालाल जैन प्रभाकर

संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं। वह सुख क्या है और कहां है, इसके लिए छै ढाला मे कहा है—'आतम को हित है, सुख सो सुख आकुलता बिन कहहिए। आकुलता शिव मांहि न तातें शिव मग लाग्यो चहिए।' अर्थात् सुख नाम की कोई वस्तु नही, दुःख के अभाव का नाम ही सुख है। दुःख का स्वरूप आकुलता है और आकुलता मोक्ष मे नही है। इसलिए मोक्ष के मार्ग मे लगना चाहिए। क्योंकि पर द्रव्य का जो सयोग इस जीव के साथ अनादि काल से लगा है, उससे अपने को छुड़ाना चाहिए। वह सम्बन्ध अभेद रत्नत्रय के द्वारा ही छूट सकता है। जब तक पुद्गल कर्म आत्मा से पृथक् नही होगे तब तक आत्मा के साथ विसंवाद ही बना रहेगा। और जब अपने गुण पर्यायो से जो एकत्वपना है वह आ जायगा तब सुखी हो जायगा। ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार मे कहा है। एकत्वपना कैसे प्राप्त हो उसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता बताई है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो इसके लिए सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्व और छः द्रव्यो का विचार करना चाहिए कि यह ससार छै द्रव्यो का समूह है जिनमे धर्म, अधर्म, आकास तथा काल चार द्रव्य तो शुद्ध ही है तथा इनमें सदृश परिणमन ही होता है और जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्यो में विसदृश परिणमन होता है। क्योंकि इन द्रव्यों में विभाव शक्ति हैं। उसके द्वारा जीव तथा पुद्गल परस्पर एक दूसरे का निमित्त पाकर विभाव भावो को प्राप्त होते हैं। जिससे कर्मों का आश्रव होता है जिसके कारण जीव संसार में भ्रमण करता है। और जब यह जीव यह विचार करता है कि यह विभाव भाव मेरे निजी भाव नहीं है। हां, मेरे अन्दर पर-कर्म के निमित्त से हुए हैं। इसलिए सर्वथा मेरे नही है और इन विभाव भावों के अनुसार मुझे परिणमन नहीं करना चाहिए। उस समय परिणमन करना या न करना इसके आधीन है और इसके लिए जीव स्वतंत्र है। उस समय जीव भेद ज्ञान का सहारा लेकर ऐसा विचार करे कि संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अखण्ड रूप से विराजमान हैं एक अश भी अन्य का अन्य में नहीं जाता। यदि एक पदार्थ भी अन्य रूप हो जावे तो ससार का ही अभाव हो जावे, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये जब यह जीव सात तत्वो के स्वरूप का विचार करता है तब जीव की इस ज्ञान शक्ति के द्वारा दर्शन मोह (मिथ्यात्व) का गलन होता है। ऐसा जीव के विचार और दर्शनमोह के गलित होने का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसके द्वारा वस्तु के सम्यक् आकार का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति या स्व का स्वाद लेना, हो जाता है जिसको सम्यग्दर्शन कहते है। यह सम्यग्दर्शन दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के अभाव मे एक साथ ही पूर्ण होता है क्यो कि यह जीव (आत्मा) अनादि वस्तु स्वभाव रूप से विपरीत होकर निज स्वभाव रूप से च्युत हो रहा था। अब इसे सात तत्वों के विचार मे उपयोग लगाने से निज आत्मद्रव्य की सिद्धि तो हो गई, परन्तु अभी ज्ञान गुण सम्पूर्ण शुद्ध नही हुआ। ज्ञान गुण की कुछ पर्यायें शुद्ध अवश्य हुयी। धीरे-धीरे समस्त ज्ञान गुण शुद्ध होगा। ज्ञान गुण का काम जानना मात्र है। और जानना मात्र आश्रव बन्ध का कारण नही है अपितु ज्ञान गुण का विसदृश परिणमन ही बन्ध का कारण है और उस विसदृश परिणमन का कारण उपयोग का पर पदार्थ मे जाना है। क्योंकि अनादिकाल से यह जीव पर पदार्थ को जान कर उनमे राग-द्वेष रूप परिणाम करता है और इसके ये संस्कार अनादि से चले आ रहे है। इन संस्कारों को रोकना आसान नहीं है। इसीलिए आगम में अपने उपयोग को अपने मे लगाने का उपदेश दिया है। जब

इस जीव का उपयोग अपने मे जाता है तब राग-द्वेष रूप विकारी परिणमन का प्रश्न ही नही खड़ा होता। हाँ इतना अवश्य है कि छद्मस्थ का उपयोग अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा अपने में नही टिकता। परन्तु अपने उपयोग को अपने मे ले जाने का अभ्यास निरन्तर करते रहने से घातिया कर्मों के आश्रव बन्ध में विराम हो जाता है और पहिले के कर्मों का अभाव होता जाता है। और इसी रीति से अनंत चतुष्टय रूप केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है। आगम में कहा भी है—

भावयेद् भेद विज्ञान मिदमच्छिन्नधारया, तावत् यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठति अर्थात् सम्यग्दर्शन (भेद विज्ञान) की भावना तब तक भावनी चाहिए जब तक ज्ञान स्वय ज्ञान रूप (केवल ज्ञान) में प्रगट न हो जाय। जब तक इस जीव के साथ चारित्र मोहका सम्बन्ध है तब तक चाहे सम्यग्दृष्टी हो अथवा मिथ्या दृष्टि रागद्वेष हर्ष विषाद आदि विकारो का अनुभव होता है। हां, इतना अवश्य है कि मिथ्या दृष्टि जीव उन विकारी भावो के अनुसार परिणत हो जाता है, उनको जानकर उनको अपना मान लेता है। क्योकि उसके भेद ज्ञान का अभाव है। किन्तु भेद ज्ञानी (सम्यग्दृष्टी) भेद ज्ञान के बल से उनको जानता हुआ भी अपना नही मानता। ऐसा विचार करता है कि ये औपाधिक भाव है कर्म के उदय से हो रहे है मेरे निजी भाव नही है। उस समय विकारी भावो से होने वाली परिणति रुक जाती है आश्रव बंध मे विराम लग जाता है। और अपनी षट्गुनी हानि वृद्धि के बल से ज्ञान गुण कुछ निर्मल हो जाता है। बारम्बार अपने ज्ञान गुण (उपयोग) को अपनी आत्मा के स्वरूप की तरफ ले जाने से सर्व मोह भी क्षय हो जाता है। और उसी षट्गुनी हानि वृद्धि के बल से समस्त घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं। जिससे ज्ञान गुण पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हो जाता है। इससे गुण तथा पर्याय तो शुद्ध हो गई परन्तु द्रव्य मे अभी भी मलिनता रहती है क्यों कि घातिया कर्मों के सदभाव रहने से आत्मा के प्रदेशों मे कम्पता रहती है इसलिए द्रव्य मे भी अशुद्धता रहती है। इस कम्पना के कारण से जो आश्रव बध होता है उसमे कषायो के अभाव होने से एक समय मात्र की स्थिति होती है। उन अघातिया कर्मों का नाश आयु के समाप्त होने पर आपोआप हो जाता है। उस समय टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी एक अकेला आत्मा रह जाता है द्रव्य, गुण तथा पर्याय तीनों शुद्धता को प्राप्त हो जाते हैं। यही सिद्ध अवस्था कहलाती है। ऐसा आत्मा हमेशा के लिए सुखी हो जाता है। ऐसे सुख की प्राप्ति धर्म से होती है। कहा भी है—'धर्म करत संसार सुख धर्म करत निर्वाण।

धर्म पन्थ साधे बिना नर तिर्यच समान॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी प्रवचन सार मे कहा है कि स्वरूप मे जो आचरण है उसी को स्वसमय प्रवृत्ति हैं, वही चारित्र है वही मोह क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम साम्यभाव है तथा उसी को आत्मा का अभेद रत्नत्रय धर्म कहते है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने भी कहा है—'सद्दृष्टिज्ञानव्रतानि धर्मं धर्मेश्वरः विदुः। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र ही धर्म है और इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चरित्र अधर्म तथा संसार-मार्ग है। उस धर्म स्वरूप, अभेद रत्नत्रयात्मक परमात्म स्वरूप आत्मा के एकत्व का आगम तर्क तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दिखाने का कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रयत्न किया है। उन्होने कहा है कि वह आत्मा कैसी है तथा उसी आत्मा के स्वकीय स्वरूप का सवेदन कहा है। अहमिक्को, खलु शुद्धो दंसणा णाम-मइओ सदा रूवी णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणु मित्तं पि॥३८॥ ऐसे आत्मा के स्वरूप के अनुभव के लिए कुछ काल की मर्यादा करके समस्त आरभ परिग्रह का त्याग करके एकांत स्थान मे जहां किसी प्रकार के वाह्य आडम्बर का समागम न हो पद्मासन लगाकर चितवन करें कि मैं एक हूं, अकेला हूं, मेरा कोई साथी सगा नही है, और अन्य द्रव्य का मेरे मे किंचित् भी समावेश नही है, मैं सभी अन्य द्रव्यों से भिन्न हूं, दर्शन, ज्ञानमय हूं, अरूपी हू और अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ऐसी वस्तुस्थिति मे भी यह जीव अनादि काल से कर्म (मोह) मे लगा हुआ है। जिसके कारण चतुर्गति मे भ्रमण करता दुखी हो रहा है कर्म के कारण से पर द्रव्यो का समागम तथा वियोग होता है तथा जिन पर पदार्थों

का समागम इस आत्मा के साथ है उनको यह जीव अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमाना चाहता है। और जब कभी वे पदार्थ इसकी इच्छा के अनुसार परणमते है तब यह हर्ष को प्राप्त होता है और जब इसकी इच्छा के विपरीत परिणमन करते है तब विषाद को प्राप्त होता है यह इस जीव की विकारी परिणति है जो आगामी कर्मों के बन्ध का कारण होती है और वह बध ससार भ्रमण का कारण है। इसलिए कर्म के उदय के विकार को विकारी भाव जानकर उसके अनुसार होने वाली परिणति को रोकना चाहिए। यही ससार के दुखो से छूटने का परम उपाय है इसलिए इन विचारो को भी रोक कर मात्र ज्ञायक रूप रहना चाहिए।

आगम मे ऐसा कहा है कि अपने उपयोग को बार-बार अपने ज्ञायक भाव म लगाने से जब मोह क्षय हो जाता है तब उपयोग अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यही उपाय कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने अपने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थो मे दर्शाया है। आज कल कुन्दकुन्द आचार्य का द्विसहस्राब्दि समारोह मनाया जा रहा है जिसमे कुन्दकुन्द स्वामी के जन्म की तिथि की खोज की गई है तथा गुणो की प्रशसा भी की गई है परन्तु जिस चारित्र को स्वय धारण कर साधारण जनता के समक्ष आचार्य महाराज ने प्रस्तुत किया था यदि वैसा आचरण करके और उस आचरण के करने का उपाय जनता के सामने रखा जाय तो यह समारोह मनाना सार्थक होगा। केवल आचार्य महाराज के गुण गाने मात्र से हमारा आत्मीक कोई लाभ न होगा। उनमें तो वे गुण है ही। जैसे भूख के लगने पर बढ़िया भोजन बना कर उसकी मात्र प्रशसा करने से तो भूख शान्त नही होती भूख तो भोजन क खाने पर ही शान्त होगी। हमारा कर्तव्य है कि हम कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा प्रतिपादित मोक्ष मार्ग को अपनाये अर्थात उस रूप आचरण करें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा, सुखी होने का यही सच्चा उपाय है। यदि इस समारोह के मनाने वाले हम इस आचरण को स्वयं धारण करके साधारण जनता के सामने उपस्थित करें तो अवश्य ही सभी का लाभ होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि पर पदार्थों के संचय तथा पंच इंद्रियो के विषय भोगने की जो इच्छायें उत्पन्न होती है। उनके अनुसार प्रवृत्ति करने से ससार परिभ्रमण होता और ससार दुःख रूप है। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि लक्ष्मी तो पुण्य से आती है उसमे हमारा क्या दोष उसके लिए जरा विचारिये कि हमारा दोष है या नहीं हाँ, इतना अवश्य है कि बिना पुण्य के कितना भी प्रयत्न करो लक्ष्मी नहीं आवेगी। उसी प्रकार यदि हम लक्ष्मी के संचय रूप पापारम्भ मे उपयोग को नहीं लगावेंगे तब भी पुण्य का उदय होने पर भी लक्ष्मी का संचय नही होगा और अपने उपयोग को अपने आत्म चिंतन मे लगावेंगे तो न किसी प्रकार की इच्छा होगी और न किसी विषयो के भोगने की प्रवृत्ति होगी तब हम कर्म बध से बचे रहेंगे इसलिये हमारा यही कर्तव्य है कि हम अपने उपयोग को अपने स्वरूप के विचार मे लगाने का प्रयत्न करते रहें यही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि मिथ्यात्व अविरति आदि कर्म बंध के कारण नही है, मिथ्या आचरण बंध का कारण है। यहाँ जानना चाहिए कि मिथ्यात्व आदि के उदय के बिना तद्रूप आचरण हो ही नही सकता। यदि कर्म के उदय के बिना मिथ्या आचरण मानेंगे तो सिद्ध अवस्था मे जहा कर्मों का सर्वथा अभाव हो गया वहा भी बन्ध मानना पड़ेगा जो आगम प्रतिकूल है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नवीन आश्रव बंध का मूल कारण मिथ्या अविरति आदि का उदय है। अतः हमारा कर्तव्य है कि कर्मों के उदय के अनुसार होने वाली परणति को रोके। परिणत होना न होना जीव के आधीन है यही सच्चा पुरुषार्थ है और यही सुखी होने का उपाय है।

× × ×

श्री कुन्दकुन्द का विदेह–गमन ?

☐ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी

(जून ८८ के "अनेकान्त" से आगे)

श्री टोडरमल स्मारक के प्रकाशनों मे ही आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह-गमन की चर्चा नही है किन्तु उससे पूर्व भी प्राय: सभी आधुनिक विद्वान और त्यागी इसके समर्थक रहे हैं।

जिस तरह आ० मानतुंग को ४८ तालो में बन्द करने की किंवदन्ती प्रचलित है उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह गमन की किंवदन्ती भी बुद्धि गम्य और आगम समत प्रतीत नही होती। जन सामान्य अनेक तरह से श्रद्धा का अतिरेक करते रहते हैं किन्तु वे सिद्धान्त के आगे नही टिकते।

आगमज्ञ, प्रमाण पुरस्सर लिखने वाले श्री जवाहर लाल जी भीण्डर वालों ने इस विषय मे अपनी सम्मति इस प्रकार दी है—

"कुन्दकुन्द विदेह में नही गये थे ऐसा जो कटारिया जी ने लिखा है वह अत्यन्त तथ्य, पूर्ण, सागम गृहीत निर्णय, आगमानुकूल, तथ्य परक तथा सिद्धान्तरक्षक होने से स्तुत्य एव मान्य ही है। तिलोयपण्णत्ती और महा-पुराणादि के प्रमाण स्पष्ट है, सिद्धान्त सप्रमाण और निरपवाद होता है। एक प्रमाण को दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नही रहती अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आयेगा। अत: कुन्दकुन्द तथैव पूज्यपाद व उमास्वामी ये सब विदेह मे गए थे यह प्रमाणित नही होता।

मैं श्री बिरधीलाल जी सेठी और कटारिया जी दोनों प्राज्ञों की गवेषणात्मक बुद्धि की अन्तस्त: प्रशन्सा करता हूं। जैन दर्शन विज्ञानात्मक होने से समीचीन श्रद्धावान है।"

और भी अनेक विद्वानो की इसी प्रकार की सम्मति आई है। आगम के आलोक मे विचार किया जाय तो इस विषय में "तिलोय पण्णत्ती" का एक और प्रमाण सेवा मे प्रस्तुत करता हूं—

चारण रिसीसु चरिमो सुपास चद्राभिधाणोय ॥१४७९॥ अध्याय ४

(चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्व चन्द्र नामक ऋषि हुए) ये वीर निर्वाण के १०० वर्ष मे हुए हैं। इसके बाद कोई चारण ऋषि नही हुए। यही से चारण ऋद्धि के ताला लग गया तब वीर निर्वाण के ५०० वर्ष बाद कुन्दकुन्दादि के चारण ऋद्धि बताना क्या आगम-सम्मत है? विज्ञ पाठक सोचें।

विचारक युक्त्यागमपूर्वक बुद्धि पुरस्सर प्ररूपणा करते है कोई आग्रह और कषायवश नही। अन्यथा विचारकता नही। इस कलिकाल मे कही चारणऋद्धि होने का शास्त्रों मे सैद्धान्तिक विधान हो तो बताया जाये अन्यथा निषेध कथन को मान्य किया जाये।

–सँभाल के बिना भटकन–

'जैसे सांसारिक दु:खों से छुटकारे के लिए रत्नत्रय आवश्यक है वैसे ही रत्नत्रय पूर्ति के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आवश्यक हैं। देव-शास्त्र-गुरु का सही रूप कायम रहने से ही जिनधर्म और जैनी कायम रह सकेंगे। अत: अन्य सभी बखेड़ों को छोड़, पहिले मन-वचन-काय, कृत-कारित-मोदन से क्रिया रूप में इनकी सभाल करनी चाहिए। सच्ची प्रतिष्ठा भी यही है। अन्यथा, कही ऐसा न हो कि सँभाल के बिना इनका सही रूप हमसे तिरोहित हो जाय और जैन बेसहारा भटकता फिरे।' —सम्पादक

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया

सल्लेखना : पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरण का प्रवाह तब तक प्रवाहित रहता है जब तक जीव की मुक्ति नही होती। इस प्रवाह मे जीव को नाना क्लेशो और दुःखों को भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रिय-विषयों में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को जानते हुए भी उससे मुक्ति पाने की ओर लक्ष्य नही देते[2]। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर आंसू बहाते एवं शोक प्रकट करते है।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तो की वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्यु को अच्छा मानते है और यह सोचते हैं कि जीर्ण शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा मिल रहा है[3]। अतएव जैन मनीषियों ने उनकी मृत्यु को 'मृत्युमहोत्सव' के रूप में वर्णन किया है[4]। इस वैलक्षण्य को समझना कुछ कठिन नही है। यथार्थ में साधारण लोग संसार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़ने में उन्हें दुःख का अनुभव होता है और उनके मिलने मे हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्मा के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को ही, अपितु अपने शरीर को भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीर को छोड़ने में उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनिया को नहीं मानते, किन्तु मुक्ति को समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणो को अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीर के त्याग पर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणो में जाने वाले और विपद्-ग्रस्त, जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने तथा नये शरीर को ग्रहण करने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते है जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन जीर्ण और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोड़ने तथा नवीन वस्त्र के परिधान मे अधिक प्रसन्न होता है[5]।

इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर सवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारने के लिए उक्त परिस्थितियों म सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नही चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेष की अग्नि में झुलसते हुए असावधान अवस्था मे हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति मे वीरों की तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु—श्रावक और साधु दोनो के इसी उद्देश्य की पूरक है। प्रस्तुत में उसी के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

सल्लेखना और उसका महत्त्व :

'सल्लेखना' शब्द जैन-धर्म का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना'—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह है कि मरण-समय मे की जाने वाली जिस क्रिया-विशेष मे बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषो का, उनके कारणो को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेष का नाम सल्लेखना है[6]। उसी को 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयम की संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृति मे 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है और उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भव-मरण है[9]। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामो पर विशेष प्रभाव नही पड़ता। पर तद्भव-मरण का कषायो एव विषय-वासनाओ की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामो पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही पर्याय के अन्त मे 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखना से अनन्त ससार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं[6]—

'जो भद्र एक पर्याय मे समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसार मे सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नही करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।'

आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारक का महत्त्व बतलाते हुए यहा तक लिखते हैं[7] कि सल्लेखना-धारक (क्षपक) का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त मे उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजी ने भी इसी बात को बड़े ही प्राजल शब्दो मे स्पष्ट करते हुए कहा है[8]

'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियो द्वारा उपचार के योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय, तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट के समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।'

वे असावधानी एव आत्मघात के दोष से बचने के लिए कुछ ऐसी बातों की ओर भी सकेत करते है, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यंभावी मरण की सूचना मिल जाती है। उस हालत मे व्रती को आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना मे लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है।

इसी तरह एक अन्य विद्वान ने भी प्रतिपादन किया है कि—

'जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतिकार करने की शक्ति नही रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को यथाख्यातचारित्र (सल्लेखना) के समय को इंगित करता है[11]।'

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टि मे समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है। वे लिखते हैं[12]—

'जो फल बड़े-बड़े व्रती-पुरुषो को कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है वह फल अन्त समय मे सावधानी पूर्वक किये गये समाधिमरण से जीवों को सहज मे प्राप्त हो जाता है[13]। अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती हे वह अन्त समय मे समाधिपूर्वक शरीरत्याग से प्राप्त हो जाती।

'बहुत काल तक किये गये उग्र तपो का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एक-मात्र फल शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।'

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समन्तभद्र की मान्यतानुसार जीवन मे आचरित तपो का फल वस्तुतः अन्त समय मे गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्ति के साथ धारण करने पर जोर देते है[14]।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते है[15] कि 'मरण किसी को इष्ट नही है। जैसे अनेक प्रकार के सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यवसाय करने वाले किसी व्या-

पारी को अपने उस घर का विनाश कभी इष्ट नही है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाश का कारण (अग्नि का लगना, बाढ़ आ जाना या राज्य में विप्लव होना आदि) उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ दिखाई नही देता, तो घर में रखे हुए बहुमूल्य पदार्थों को बचाने का भरसक प्रयत्न करता है और घर को नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणो का अर्जन करने वाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुणरत्नो के आधारभूत शरीर की, पोषक आहार-औषधादि द्वारा रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नही है। पर दैववश शरीर मे उसके विनाश-कारण (असाध्य-रोगादि) उपस्थित हो जायँ, तो वह उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीर की रक्षा अब सम्भव नही है तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणों की वह सल्लेखना द्वारा रक्षा करता है और शरीर को नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखो से सल्लेखना की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहज म जानी जा सकती है। ज्ञात होता है कि इसी कारण जैन-सस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में अनेकों स्वतत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्य की 'भगवती आराधना' इस विषय का एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्यु-महोत्सव', 'समाधि-मरणोत्साहदीपक', समाधिमरणपाठ' आदि नामों से सस्कृत तथा हिन्दी मे इसी विषय पर अनेक कृतियां उपलब्ध हैं।

सल्लेखना का काल, प्रयोजन और विधि :

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहा और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना-धारण का काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥
—रत्नकरण्डश्रा० ५-१

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओ मे आत्मधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'
—गीता २-२७।

२-३. संसारासक्तचित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥
—मृत्युमहोत्सव १७

४. मृत्युमहोत्सव श्लोक १०।

५. जीर्णं देहादिक सर्वं नूतन जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा।
—वही १५

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
सयाति नवानि देही॥—गीता २-२२

६. (क) पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।
(ख) गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसूत्र ७-२२।

७. अकलकदेव, तत्त्वार्थवार्त्तिक ७-२२।

८. एगम्मिभवग्गहणे समाहिमरणेणजो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमत्तूण॥
—भ० आ०।

९. सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्वभत्तिराइण।
भोत्तूण य देवसुख सो पावदि उत्तम ठाण॥—वही।

१०. आशाधर, सागारधर्मामृत, ८-६।

११. वही, ८-१०।

१२. आदर्श सल्लेखना, पृ० १६।

१३. मृत्युमहोत्सव, श्लोक १, २३।

१४. आचार्य समन्तभद्र, रत्नक० श्रावका० ५-१।

१५. पूज्यपाद, सर्वार्थसि० ७-२२।

विचारकों के लिए :—

आवश्यक और दिगम्बर मुनि

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

एक बार हमने लिखा था—

"हम इकट्ठा करने में रहे और सब कुछ खो दिया।" यह एक ऐसा तथ्य है जिसे लाखो-लाखों प्रयत्नो के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे, जितना परिग्रह बढ़ाते रहे, वैसे वैसे जैन हमसे उतना दूर खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधनभूत मुनि और श्रावकोचित् आचार विचार मे भी शून्य जैसे हो गए।

लोगों ने जडों की खोजें कीं उन्होंने सारा ध्यान जड़ों पर शोध प्रबन्धो के लिखने मे केन्द्रित किया, उन्हें प्रकाशित कराया और उन पर विविध लौकिक पारितोषिक, डिग्रिया पाते रहे। आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह सचयन मे लगे रहे और वे भी साधना, दान आदि के विविध आयामों के नाम से विविध रूपो मे परिग्रह संचयन और मान-पोषण आदि मे लीन रहे। जिससे वीतरागता का प्रतीक निर्ग्रन्थत्व-जैनत्व लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि मे 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय जैन के सरक्षण का अन्य उपाय नही। और अपरिग्रहवाद की सीढ़ी पर चढने के लिए शुद्ध-श्रावकाचार और साध्वाचार का पालन आवश्यक है।"

बात आचार्य कुन्दकुन्द की है। यद्यपि इनके समय आदि के विषय मे श्री नाथूराम प्रेमी, डॉ० पाठक, डॉ० ए. चक्रवर्ती, प० जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ० उपाध्ये और डॉ० ज्योति प्रसाद प्रभृति विद्वानों के अपने मत रहे है तथापि वर्तमान मनीषियो के सद्विचार और प्रेरणानुसार इन दिनो देश मे कुन्दकुन्द का (निश्चित) द्विसहस्राब्दी वर्ष मनाया जा रहा है—हम इसका स्वागत करते है। बहाना चाहे जो भी हो—हम समय आदि को, आदर्श जीवन और गुणो जितना महत्त्व भी नही देते। हमारी दृष्टि से तो महापुरुषो के निमित्त से धार्मिक उत्सव सदा-काल मनाए जा सकते हैं। ऐसे निमित्तों से यदि जैनत्व को समझने और जीवन मे उतारने के सही उपक्रम किए जांय तो ऐसे बहानों से स्थान-स्थान पर जो समारोह होते है—हो रहे है व कुन्दकुन्द की कृतियो के विषय में और उनके जीवनाचार के तथ्य उजागर करने की जो पुनरावृत्तिया हो रही है; उनसे अवश्य लाभ उठाया जा सकता है। यदि कुन्दकुन्द जैसे आचार को जीवन मे उतारा जाय, उनके उपदेशानुरूप आचरण किया जाय तो जैनत्व को अब भी बचाया जा सकता है। वरना, आज जैनत्व टूट-सा चुका है। लोग आज जिस मात्रा मे जय-जयकार करने के अभ्यासी बन चुके है यदि कही उसके शतांश भी कुन्दकुन्दवत् आचार-विचार के अनुसर्ता होते तो जैन की जैसी चिन्तनीय दशा आज है वैसी न होती।

कुछ लोग कुन्दकुन्द को अध्यात्म उपदेष्टा होने के नाते अध्यात्म मात्र को ही आगे ला रहे है और व्यवहार शुभाचार का लोप कर रहे है। पर, ध्यान से देखा जाय तो कुन्दकुन्द ने व्यवहार का भी वैसा ही प्ररूपण किया है जैसा कि अध्यात्म का। उन्होने समयसार की भांति अष्टपाहुड भी रचे है। अष्टपाहुडो मे बाह्याचार पर जितना खुलकर लिखा गया है, शायद ही अन्यत्र हो। इनमे श्रावको, मुनियो दोनो के आचारो का खुलकर वर्णन है। यदि मानसिक शिथिलाचारी होने के कारण कोई व्यक्ति इन्द्रिय भोगो की सामग्री से चिपका रहे—परिग्रह को कृश न कर सके और बाह्य में अपने को धर्मात्मा बताने के लिए कोरे अध्यात्म को चर्चा करने लगे, तो उसे मार्ग से भटका ही कहा जायगा। आज अध्यात्म के नाम पर एक छलावा जैसा भी होने लगा है। हमने अध्यात्म के गीत गाने वालों मे प्राय: ऐसों को अधिक देखा है जो आकण्ठ परिग्रह और मोह माया में डूबे हो। उनमें ऐसे भी कितने ही हो, जिन पर अपार सम्पत्ति हो और आगे

भी सम्पत्ति संग्रह के जुगाड़ मे लगे हों—तब भी आश्चर्य नहीं। पर—

जब तक ऐसा चलता रहेगा और बाह्याचार पर जोर न दिया जायगा, परिग्रह-लीन-प्रवृत्ति रहेगी, तब तक जैन का ह्रास ही होगा। यदि श्रावक और मुनिगण इस ओर अपनी-अपनी श्रेणी गाफिक ध्यान दें और अवश्य-करणीय को करें, तब भी बहुत कुछ हो सकता है। इस प्रसंग मे यदि हम कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित मात्र **आवश्यक** भर के लक्षण को ही देखें और विभिन्न आचार्यों कृत विभिन्न टीकाओं को देखें तो भी यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि कौन कहा से कहा आ गया, कितने परिग्रह में डूब गया?

साधारणत. आवश्यक शब्द का भाव प्रायः अवश्य करने योग्य, क्रिया से लिया जाता रहा है और श्रावक के लिए संसार-वर्धक क्रियाओं से समय निकाल कर परमार्थ की जनक षट्क्रियाओं—(देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, सयम, तप, दान) के करने को जरूरी बताया जाता रहा है। उक्त षट् क्रियाएँ श्रावकों के छह आवश्यक है। क्यो कि श्रावक दशा मे परायो की जिम्मेदारी होने से श्रावक विविध सकल्प-विकल्पो के जाल मे फँसा होता है। यदि वह समय निकाल कर इन क्रियाओ को करले तो वह आत्मा के प्रति आगे बढ़ता है। पर, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा किया गया आवश्यक शब्द का एक और अर्थ है जो बड़े गहरे मे है और मुनियो के लिए कहा गया मालूम होता है। उसमे श्रावकों की भाति समय निकाल कर करने की बात नही है। वहा तो 'स्व' के सिवाय अन्य मे कभी जाने की कल्पना न होने से (मुनि के अ-वश होने से) प्रति समय ही आवश्यक है। कुन्दकुन्द कहते है—

'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयति बोधव्वं।'
—नियमसार १४२

'यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न-गतः, अतएव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगी-श्वरस्य निश्चय धर्मध्यानात्मक परमावश्यककर्मावश्यं भवति।' —पद्मप्रभमलधारिदेव

योगी आत्म-ग्रहण के सिवाय अन्य पदार्थों के वश मे नही होता है अतएव उसे 'अवश' कहा गया है। और परमजिन योगीश्वर के धर्मध्यानात्मक परम-आवश्यक होता है। प्रसंग मे जिन-योगीश्वर शब्द से जैन मुनि ही समझना चाहिए। क्योकि जिन भगवान के धर्मध्यान न होकर शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये ही हो सकते हैं। इसके सिवाय जिन भगवान को सामायिक, स्तवनादि जैसे आवश्यको की आवश्यकता ही नही होती।

टीकाकार ने गाथा १४३ की टीका मे लिखा है—जो श्रमण अन्य के वश मे रहता है उसके आवश्यक नही होता।—'स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणा वशो भूत्वा······ द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन्······जिनेन्द्र-मन्दिरं वा तत्क्षेत्र वास्तुधनधान्यादिक वा सर्वमस्मदीय-मिति मनश्चकार इति।'—जो निजात्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो के वशीभूत होकर······द्रव्यलिंग को ग्रहण करके स्वात्म कार्य से विमुख होकर······जिनमन्दिर अथवा उसके क्षेत्र वास्तु-धन-धान्यादि को अपना मानने का मन बनाता है—वह पर-वश होता है। टीका मे गृहीत **द्रव्यलिंगी** शब्द बाह्यवेश का ही सूचक है।

इसी नियमसार की गाथा १४२ की मूलाचार टीका मे वसुनन्दी आचार्य का अभिप्राय भी ऐसा ही है अर्थात् जो पर के वश मे न हो उसके ही आवश्यक होते है—'न वश्यः पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायेषत्कषायरागद्वेषादि-भिरनात्मीयकृतस्तस्यावशस्य यत्कर्मानुष्ठान तदावश्यक-मिति बोद्धव्य ज्ञातव्यम्.'—मूला. ७/१४.

इसी नियमसार की गाथा १४६ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे और भी खोला है—

'परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं॥'१४६

जो पर के भाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव स्व-आत्मा का लक्ष्य रखता है वह स्वय में स्व-वश होता है उसके कर्म (कार्य) को आवश्यक कहा जाता है।

उक्त स्थिति के होने पर ही **'एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः'** जैसी स्थिति बनती है। वास्तव मे तो आहारादि क्रियाएँ भी मुनि की परवशता को इंगित करती हैं। पर, चूंकि शरीर के रहते हुए इनका परित्याग शक्त्यनुसार ही हो सकता है—जिसके त्याग के लिए मुनि अभ्यास भी करता है और जब तक वह परिपक्व नहीं

हो जाता—मजबूरी मे आहार लेता है। ऐसा आहार तप आदि में सहायक होने से मुनि की 'अवशता' की पुष्टि ही करता है, क्योंकि मुनि की उसमें गृद्धता नही होती। कहा भी है—'लें तप बढावन हेत, नहि तन पोषते तज रसन को।'

जब हम समयसार को पढ़ते है तो उसमे भी पद-पद पर आत्मा के अपरिग्रही—पर-निर्लेप और स्वतत्र आस्था करने की प्रेरणा मिलती है। आचार्य कहते है—

'अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाण मइओ सदाऽरूवी।
ण हि मज्झ अत्थि किं चिवि, अण्ण परमाणु मित्त पि॥'

उक्त गाथा की विस्तृत व्याख्याएँ मिलती है। और सामान्य अर्थ से भी यही फलित होता है कि—आत्मा अकेला स्व मे एक है, टकोत्कीर्ण शुद्ध स्वभावी है, दर्शन और ज्ञानमय परिपूर्ण है, त्रिकाल मे स्वभावत: अरूपी है और अन्य परमाणुमात्र—पर द्रव्य आत्मा का स्व-स्वरूप नहीं है। इसका आशय ऐसा भी है कि आत्मा अन्य पुद्गल आदि से रहित सदाकाल दिगम्बर है। ऐसा शुद्ध आत्मा ही आकाश मे स्थित होने के कारण 'दिगम्बर' नाम पाता है। इसके सिवाय शरीर से नग्न—वस्त्र-रहित होना तो पुद्गल की (निर्ग्रन्थता) नग्नता है -मात्र अन्त-रग को इंगित करने को। जहां मैं स्वभाव से नग्न हू ऐसा व्यवहार भी होगा वहां भी 'मैं' से आत्मा ही ग्राह्य होगा। शरीर से पृथक् आत्मा है, यह बात जगत्प्रसिद्ध है और इसे अन्य भी मानते है। गीता मे वस्त्राणि जीर्णानि' आदि से भी इस कथन की पुष्टि होती है—भले ही वहा आत्मा का स्वरूप कुछ भी क्यो न माना गया हो। अस्तु !

उक्त प्रसग मे जिसको अ-बश कहा वह मुनि का ही रूप ठहरता है और मुनि को अ-वश होना ही चाहिए जब ऐसा होगा तभी कुन्दकुन्द-अब्दि सफल मानी जायगी। अन्यथा, कुन्दकुन्द की जय और आवश्यको के पालन की बात कोरा दिखावा ही होगा। थोड़ी देर को यह भी मान लिया जाय कि उक्त स्थिति अति उच्च अवस्था की है तो भी जो कर्म अवश होने की ओर ले जाते है उनकी ही पूर्ति कहा तक की जा रही है? आवश्यको के कई भेद बतलाए गए है ताकि एक के अभाव मे दूसरे म लगा जाय और उसमे भी थकान होने पर तीसरे चौथे आदि मे लगा जाय—मुनि इनसे कभी अलग न हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—

'आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावम्।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्ण होदि जीवस्स॥
आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा॥
आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा॥'

—नियमसार १४७—१४९.

यदि तू आवश्यककर्म को चाहता है तो अपने आत्म-स्वभाव मे अपने भाव को स्थिर कर, इसी के करने से श्रमणगुण की सम्पूर्णता होती है। आवश्यक कर्म से हीन श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होता है; भ्रष्ट न होवे इसलिए उसे पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक कर्म करना चाहिए—'अ-वश' होकर रहना चाहिए। जो श्रमण (सदा) आवश्यक-कर्म से युक्त होता है वह श्रमण अन्तरात्मा होता है और जो आवश्यककर्म से रहित होता है वह श्रमण (द्रव्यलिंगी) बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) होता है। श्री दौलतराम जी ने भी कहा है—'बहिरातम तत्त्व मुधा है।' ऐसा सब आचार्य कुन्दकुन्द का अन्तरंग है इस पर ध्यान देना चाहिए।

आज स्थिति बड़ी विचित्र है। परिपाटी ऐसी बन रही है कि—व्यक्ति अपने करने योग्य कार्यों को दूसरों से कराने का अभ्यासी-सा बन गया है। जो सामाजिक व्यवस्थाएँ उसे स्वयं करनी चाहिए थीं वे कार्यकर्ताओं और नेताओ ने श्रमणो के ऊपर छोड़ दी। और इसमें कारण है उनकी स्वय की आचार हीनता। स्वय आदर्श रूप न होने से जब समाज उनकी नही मानता तब वे सहायता के लिए किसी श्रमण की दुहाई देकर उससे उस कार्य की सम्पन्नता चाहते है—उस पर दौड़े जाते हैं और श्रमण ऐसा करने-कराने से अपने आवश्यक कर्म से हट जाता है—सांसारिक प्रपंचो मे फँस जाता है। श्रमण का कार्य स्व-हित प्रमुख है। जबकि आज मामला उल्टा हो चुका है। इसे नेताओं और समाज को गहराई से सोचना चाहिए—आज यदि साधु में शिथिलता है, तो उस सबकी जिम्मेदारी से श्रावक बच नही सकता—उसे गुरु-पद की

निर्दोषता के प्रति सावधान रहना चाहिए—गुरु को घेरने से बचना चाहिए। आज की प्रथा मे तो साधु इसलिए अच्छा है कि वह हमारा प्रचारादि का काम कर रहा है। यदि हमारे मिशन मे वह सफलता दिलाता है, तो उसकी जय बुलती है फिर चाहे वह आचार मे शिथिल ही क्यो न हो जाय—यानी श्रावक का साधु की विरागता से लगाव नहीं; वह संसार की ओर स्वयं दौड रहा है और साधु को भी दौडा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने साधु के स्थानादि के जो निर्देश दिए हैं, उनसे भी मुनि के अ-वश होने की पुष्टि होती है। कहा गया है कि—सूनाघर, वृक्ष का मूल, उद्यान, मसान भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का शिखर, बन अथवा वसतिका इन स्थानों विषै, मुनि तिष्ठे है। मुनिन करि आसक्त क्षेत्र, तीर्थ स्थान वैध कहे है। मुनि को पंचमहाव्रतधारी, इन्द्रियों मे संयत, सभी प्रकार की सांसारिक वांछाओं से रहित और स्वाध्याय व ध्यान में लीन रहना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य भी अनेको निर्देश है। और इन्ही से मुनि रूप की सुरक्षा है—अपरिग्रहीपना है।

जब भांति-भांति की अफवाओ, चर्चाओ प्रश्नावलियो और समाचारो से विचलित मन ने विचार दिए—'हमारी श्रद्धा सच्चे मुनि-मार्ग मे हैं और सच्चे मुनि आज भी है तथा हम भी कुन्दकुन्द के आदेशो-आदर्शों के समर्थक है। हम चाहते रहे हैं कि आज के सभी मुनियों मे हमारी श्रद्धा बनी रहे—हम उनके वर्तमान आचारो पर भी शकित न हों। तब प्रसिद्ध अपवादो के निराकरणार्थ हम कई वर्षो से शास्त्रो मे इन प्रसगों की खोज में रहे कि कहीं कुन्दकुन्द के चरित्र या आगमों मे ऐसे उल्लेख मिल जाय कि—

'कोठियों, बगलो और गृहस्थो से सकुल ग्रहो मे ठहरना, चन्दा-चिट्ठा करना-कराना, भवन आदि बनवाना, सावधान होकर फोटू खिचवाना, नेताओ से घिरे रहना, लम्बे काल जन-सकुल नगरो मे ठहरना, शीत-उष्णहर उपकरणो का प्रयोग करना, जत्र-मत्र, जादू-टोना, गण्डा-ताबीज आदि से जनता को सन्तुष्ट करना, कमंडलु का पानी देना जैसे कार्य दिगम्बर मुनि को कल्प्य है अर्थात् वे ऐसा सब कुछ कर सकते हैं, आदि। **पर, इसमें हमें निराशा ही मिली—ऐसे उलेख न पा सके।**

मुनि-श्रद्धालु होने के नाते हमारे मन ने यह भी प्रेरणा दी कि—'यदि अब भी लोग द्वि-सहस्राब्दि मनाकर भी कुन्दकुन्द के आगम वचनों पर न चल सकें तो हम क्यों न भक्ति में अपने हम-सफर, मुनि-श्रद्धालु भक्तों, नेताओं और धनपतियों से ऐसी अपेक्षा करें कि वे अपनी शक्ति का उपयोग उक्त प्रकार की खोजों के कराने में करे। हम तो असमर्थ है पर समर्थ भक्त तो इस निमित्त बडी राशियो के पुरस्कारो की घोषणा कर अर्थ-खोजी विद्वानो का उत्साह बढ़ाकर ऐसा (वर्तमान-मुनि-आचार रूप) सब विधान तक प्रसिद्ध और निर्मित करा ही सकते है। आज इस युग मे पैसे के बल से सब कुछ होना शक्य है और कई क्षेत्रो में तो मनमानी तक हो रही हैं। फिर यह तो धर्म का कार्य है। यदि उक्त प्रथाएँ सही ठहर जाती है तो वर्तमान का पूरा मुनिरूप सुरक्षित रह जाता है और लोगों की श्रद्धा भी उक्त रूप मे रह सकती है—और विरोधियो के मुह भी सहज बन्द हो सकते है या वर्तमान चलन के अनुरूप कोई विधान भी निर्मित कराया जा सकता है। वरना, जमाना खराब है और हमें स्मरण है कि कभी विरोध को लक्ष्यकर, उस समय के सर्वोच्च और सरल त्यागी वर्णी श्री पं० गणेशप्रसाद जी महाराज तक को एक बार इटावा से श्री ला० राजकृष्ण जैन को भेजे एक पत्र में यहां तक लिख देना पडा कि—'जैनमित्र अंक २० मे जो लेख निरजनलाल के नाम से छपा है, आप लोगो ने पढ़ा होगा। अब तो यहा तक आचार्य महाराज के ये शिष्य लिखते है—**'पीछी कमण्डलु छीन लो आदि।'**

पर, बहकाए मन की ऐसी अटपटी बातें हमारी बुद्धि को रास नहीं आई। बुद्धि ने तो कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित 'आवश्यक' के लक्षण को ही आवश्यक और स्वीकार्य समझा। अर्थात् जो 'पर' किसी के वश मे न हो वही अ-वश, निर्मल और वन्दनीय दिगम्बर मुनि है और आवश्यक भी उसी के होते है।

आवश्यक पालन मे जो स्थिति मुनि की है, श्रावकों के षट्-कर्मों के सम्बन्ध मे श्रावक की भी वैसी स्थिति

(शेष पृ० टा० ३ पर)

जरा-सोचिए !

स्वर्गीयों की झांकी : एक स्वर्गीय की कलम से—

१. स्व० श्री अर्जुनलाल सेठी :

'सेठी जी जिन-दर्शन किये बगैर भोजन नही करते थे। जेल मे जिन-दर्शन की सुविधा न होने के कारण, उन्होने भोजन का त्याग कर दिया और उस पर वे इतने दृढ़ रहे कि सत्तर रोज तक निराहार रहे। अन्त मे सरकार को झुकना पड़ा और महात्मा भगवानदीन जी ने जेल में जिन-प्रतिबिंब विराजमान कराई, तब उनका उपवास समाप्त हुआ। भारत के राजनीतिक बन्दियों मे सेठी जी का यह प्रथम उदाहरण था, इसलिए भारतीय नेताओं ने 'भारत का जिन्दा मेक्स्वनी' कहकर उनका अभिनन्दन किया था।'

'जो सेठी जीवन भर गुरुडमवाद, पोपड़मवाद, सम्प्रदायवाद के विरुद्ध जीवनभर लड़ता रहा, मिटता रहा, वही सेठी इन मजहबी दीवानो द्वारा इस तरह समाप्त कर दिया जायगा। विधि के इस लेख को कौन मेट सकता था।'—

'देश सेवा का व्रत लेने और जो भी अर्थ हाथ मे आए, उसे देश सेवा मे ही न्योछावर कर देने के कारण सेठी जी स्वयं तो दारिद्रयव्रती थे ही, उनके परिवार को भी यह सब सहना पड़ता था। परिवार के निमित्त मैंने कई रईसों से कुछ भिजवाने का प्रयत्न किया भी तो सब व्यर्थ हुआ ....।

'राजनैतिक और आर्थिक दुश्चिन्ताओं के कारण सेठी जी का मानसिक सन्तुलन आखिर खराब हो गया, और जब कही आश्रय न मिला तो ३० रुपए मासिक पर मुस्लिम बच्चो को पढ़ाने पर मजबूर हो गये। अपने ही लोगो की इस बेवफाई का उनके हृदय पर ऐसा आघात लगा कि उन्होंने घर आना-जाना भी तर्क कर दिया और २२ दिसम्बर १६४१ को इस स्वार्थी संसार से प्रयाण कर गए।'—

'जिस असाम्प्रदायिक तपस्वी की अर्थी पर कबीर की मैयत की तरह गाड़ने-फूकने के प्रश्न पर हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष होता। वह भी कुछ सम्प्रदायी मुसलमानो के षड्यन्त्र के कारण न हो सका उनके परिवार वालो को भी तीन रोज के बाद सेठी जी की मृत्यु का संवाद मिला।

२. स्व० ब्र० सीतल प्रसाद जी :

'न जाने ब्रह्मचारी जी किस धातु के बने हुए थे कि थकान और भूख प्यास का आभास तक उनके चेहरे पर दिखाई न देता था।'

'उन्होंने सनातन जैन समाज की स्थापना कर दी थी। वे इसके परिणाम मे परिचित थे इसीलिये उन्होंने उक्त संस्था की स्थापना से पूर्व सभी जैन-संस्थाओ से त्याग पत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी संबध था। क्योकि वे स्वप्न मे भी उन संस्थाओ का अहित नही देख सकते थे, किन्तु जो अवतरित ही ब्रह्मचारी जी को मिटाने के लिए हुए थे, उन्हे केवल इतने से सन्तोष न हुआ। वे ब्रह्मचारी जी के व्यक्तित्व को ही नही अस्तित्व को भी मिटाने के लिए दृढ संकल्प थे। इस भीष्मपितामह पर धर्म की आड़ मे प्रहार किए गए।'

'इन्ही आंधी तूफानो के दिनो (सन् २८ या २६) में पानीपत मे श्री ऋषभ जयन्ती उत्सव था।..........मैं सोच ही रहा था कि आज क्या खाम सभा जम सकेगी कि प० वृजवासीलाल बदहवास-से मेरे पास आए और एकान्त में ले जाकर बोले—गोयलीय अनर्थ हो गया, अब क्या होगा? मै घबराकर बोला—पडित जी, खैर तो है, क्या हुआ?

वे पसीने को चाँद पर से पोछते हुए बोले—'बाबा जी स्टेशन पर बैठे हुए हैं और यह कहकर ऐसे देखने लगे जैसे किसी भागी हुई स्त्री के मरने की खबर फैलाने के बाद, उसे पुन: देख लेने पर होती है। मुझे समझते देर नही लगी कि ये बाबा जी कौन से है और क्यो आए है? बात यह थी कि पानीपत में ब्रह्मचारी जी के भक्त काफी थे उन्होंने आने के लिए उन्हे निमत्रण भी दिया था...।

'सभा का अध्यक्ष भी उन्ही को चुना गया तो एक दो व्यक्तियो ने कुछ पक्षियों जैसी आवाज मे फब्ती कसी।

..........उन दिनों मैं आर्य समाजी टाइप डंडा अपने साथ रखता था, लपक कर उसे उठा लिया और आवेश भरे स्वर में बोला—ब्रह्मचारी जी, आप व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दें, देखें कौन माई का लाल आप तक बढ़ता है। ब्रह्मचारी जी सिहर से गए, बोले—भाई शान्त रहो, मेरा व्याख्यान करा दो, फिर चाहे मेरा कोई प्राण ही निकाल दे।'

'यह ऐसी आंधी का बवण्डर था कि इसमें·· पुलिस की बर्छियों का सामना करने वाले जैन कांग्रेसी भी इन अहिंसकों की सभा मे बोलने का साहस न कर सके। वैरिष्टर चम्पतराय जी और साहित्यरत्न प० दरबारी लाल जी जैसे प्रखर और निर्भीक विद्वान साहस बटोर कर गए भी पर व्यर्थ। उन्हे भी तिरस्कृत किया गया, बेचारे मुंह लटकाये चले आए। सीतल प्रसाद को ब्रह्मचारी न कहा जाय, उसे आहार न दिया जाय, धर्म स्थानों मे न घुसने दिया जाय, उसे जैन संस्थाओं से निकाल दिया जाय, उसका व्याख्यान न होने दिया जाय, उसके लिखने और बोलने के सब साधन समाप्त कर दिए जांय। यही उस समय के जैन धर्मोपयोगी नारे उस संघ ने तजबीज किए थे।'

'ब्रह्मचारी जी की मृत्यु पर पत्रों ने आंसू बहाए, शोक सभाएं भी हुई। शीतल-होस्टल, शीतल वीर सेवा मन्दिर और शीतल-ग्रन्थमाला की योजनाएं भी कुछ दिनो बड़ी सरगर्मी से चली, पर आखिर, सब सीतल-स्मारक शीतल होकर रह गये।'

"वोह पलकों पै आ ही गया बन के आंसू।
जबां पर न हम ला सके जो फसाना॥"—सहबाई

—स्व० श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय

(भा० ज्ञानपीठ प्रकाशन 'जैन जागरण के अग्रदूत' से)

सम्पादकीय नोट—जैनधर्म में हिंसा, झूठ, चोरी आदि को पाप कहा है और इसके करने वाले को पापी। उक्त दोनों हस्तियों के उक्त स्व-जीवन में ऐसा कुछ नहीं लक्षित होता जो पाप हो। मालुम होता है इन्होंने जो भी किया परहित-हेतु ही किया, भलाई की दृष्टि से ही किया। ब्र० सीतलप्रसाद जी तो अध्यात्म क्षेत्र में भी इतना दे गये जितना देना अन्य को सरल नहीं। उन्होंने कठिन-से आगम भी सरल करके जनता को दिए जो आज भी उनकी गौरव-गाथा गा रहे हैं। श्री अर्जुनलाल सेठी सा० की धार्मिक दृढ़ता तो उनके ७० उपवासों से ही स्पष्ट है कि—उन दिनों उनका श्रद्धान और आचरण कैसा जैनधर्म परक था। खेद है कि इस पर भी अहिंसा, उपगूहन और स्थितिकरण का नारा देने वाले कुछ जैनियों ने इनके साथ जैसा सलूक किया, वह उस समाज की तत्-कालीन मनोवृत्ति को धब्बा लगाने को काफी है। क्या, तिरस्कार के सिवाय तब अन्य कोई उपाय नहीं था? कहावत है कि 'कंकरी के चोर को कटार नहीं मारना चाहिए'—यदि कुछ समाज की दृष्टि से इनमें कोई दोष प्रतिभासित हुए हों, तब भी शास्त्र के इस वाक्य को तो याद रखना ही चाहिए था कि—'जो एक दोष सुन लीजे। ताको प्रभु दण्ड न दीजे।'—पार्श्वपुराण

नारा तो हम देते हैं—'अहिंसा परमो धर्मः' और 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का। पर, कर्मठों के अपमान के समय तब ये नारे कहां चले गए थे जो आज परिग्रह को साथ लिए उभरते दिखाई दे रहे हैं? आज तो समाज में खुले आम सभी पांचों ही पाप स्पष्ट घर किए जैसे दिखते हैं, फिर भी कोई किसी के कार्य तक का बहिष्कार नहीं कर रहा—सभी क्षमा धारण किए है। गहरी नजर से देखेंगे तो शायद आपको सार्वजनिक संस्थाओं में, सभाओं में, मंचों पर और यहां तक कि जैन नाम के गली-कूचों तक में भी पाप करने वाले ऐसे लोग तनकर खड़े दिखाई दे जाएंगे। शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र बाकी हो जहां इनकी घुस-पैठ न हो। ये हर जगह विद्यमान हैं—कहीं पैसे के साथ, कहीं ज्ञान के मद को लिए, कहीं पत्र पत्रिका या किसी सस्था या आन्दोलन के चालक होकर। तरह-तरह के वेष धारियों मे भी इनकी संख्या कम नहीं होगी। फिर भी आश्चर्य है कि आज समाज ऐसों के बहिष्कार के प्रति मौन क्यों है? समाज तब भी थी और आज भी समाज है।

क्या लिखें, कहां तक लिखें? समाज की उक्त स्थिति

और कर्मठों के अतीत अपमानों और नवीन गतिविधियों को पढ़ सुनकर कभी-कभी तो हमारा मन खीझ-सा उठता है और सोचता है—

'करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराह।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत काह।।'

प्रसंग में हम यह भी कहना चाहेंगे कि—जिन पर समाज का कोई ऋण नहीं है या जो ऋण से बेबाक हो चुके है उनकी बात दूसरी है—पेशेवर याचकों की जमात से तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। हम तो अपनी जानते है—हम पर समाज का ऋण है। हम इसी में बढ़े, पढ़े-लिखे और सदा इसी में काम करते रहे हैं और समाज ने अपने में रहकर जीने दिया तो समाधि भी इसी में चाहेंगे। सोचते है आयु का क्या भरोसा? न जाने कब सांस निकल जाय। कहीं ऋणी होकर ही भव-भव मे भटकते न फिरे। अत उऋण होने के प्रयास में सचाई बांट देते है। आशा है हमारी सद्भावना का ख्याल कर पाठक इस कटुसत्य के लिए हमें क्षमा करेंगे।

हमारी तो दृढ़ धारणा है कि जैनधर्म त्यागरूप अपरिग्रही धर्म है। जब तक पैसे जैसे परिग्रह के बल पर धर्म का स्थायित्व चाहते रहेंगे; भेंटे, सम्मान आदि दे-लेकर—जयन्तियाँ, उत्सव, सेमीनार, यहाँ तक कि जय जयकार भी पैसो के बल पर करते-कराते रहेंगे तब तक—चाहे धर्म-प्रचार के नाम पर कितनी ही यात्राएँ कर कितने ही भाषणों का, अखबारों, कैसिटों, रेडियो या टेलीविजनों का उपयोग क्यों न किया जाय; धर्म और धर्मात्मा कर्मठों का ह्रास ही होता रहेगा।

यदि धर्म और कर्मठों की इज्जत रखना है तो समस्त पाखण्डों को छोड़—स्व-आचार पालन का मूर्त आन्दोलन छेड़ना होगा। जब नेता लोग, विद्वान्, व्याख्याता, गृहस्थ और त्यागी कुन्दकुन्द की वाणी रूप स्व-आचार में प्रवृत्त होंगे—तब धर्म स्वयं चमक कर सामने खड़ा दिखेगा और कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि भी तभी सफल होगी।

(पृ० ३० का शेषांश)

है। श्रावक समय निकाल कर अपनी शक्ति के अनुसार देव-पूजा आदि करे। पर, बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इन धार्मिक कर्तव्यो को पूरा करते हो। आज तो षट्कर्म क्या? जब बहुत से लोगों को साधारण नियमो—पानी छानकर पीने, रात्रि भोजन न करने, तीन मकारों का त्याग करने आदि तक का ज्ञान नही। तब षट् क्रियाओं के करने का प्रश्न ही कैसा?

जब श्रावकों का ध्यान भी जैन के प्रारम्भिक नियमों के पालन पर होगा, तभी द्विसहस्राब्दी मनाना सफल होगा। सोचना तो यह भी होगा कि कुन्दकुन्द के आदेशो के पालन बिना हमारे सारे उपक्रम कही दो-नम्बर (यानी नियम तोडने) के तो नही? जबकि **जैन मात्र को दो-नंबरी कामो से बचना चाहिए।** जैन की वृत्ति तो 'मन मे होय सो वचन उचरिए, वचन होय सो तन सो करिए' जैसी होती है न कि 'हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और' जैसी। अत: इस अवसर पर हर जैनी का कर्तव्य है कि वह अपने योग्य आवश्यकों का अवश्य पालन करे और आगे के जीवन मे भी उनके निर्वाह करने की सही प्रतिज्ञा करे। शुभमस्तु सर्व जगतः। —**सम्पादक**

—: o :—

कागज प्राप्ति : —श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० २ अप्रैल-जून १९८९

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अध्यात्म-पद	१
२.	कुन्दकुन्दाचार्य—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	श्रुतदेवता की मूर्तियां खंडित होने से बचायें —डा० गोकुल चंद जैन	६
४.	आ० कुन्दकुन्द और उनकी साहित्य सृजन मे दृष्टि —डा० कमलेश कुमार जैन	६
५.	अमृत-कण—श्री शील चन्द्र जौहरी	१२
६.	आ० कुन्दकुन्द का अप्रकाशित साहित्य —डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१३
७.	बूंद बूंद रीते जैसे अंजुलि को जल है —श्री शान्तीलाल जैन कागजी	१५
८.	महाकवि बनारसीदास की रस-विषयक अवधारणा —डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	१७
९.	परमात्म प्रकाश एवं गीता मे आत्मतत्व —डॉ० कपूर चन्द जैन, संस्कृत विभागाध्यक्ष	१९
१०.	दिगम्बर मुनियो की जीवन चर्या —कुमारी विभा जैन, एम. ए. शोध छात्रा	२३
११.	षट्खंडागम और गोम्मटसार —श्री एम. एल. जैन, नई दिल्ली	२५
१२.	सल्लेखना और समाधि मरण —डॉ० दरबारी लाल कोठिया	२७
१३.	समाज और जैन विद्वान्—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	३१

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के यशस्वी विद्वान् पं० श्री बालचन्द्र शास्त्री वि. सं. १९६२—२०४६

श्री पं० बालचन्द्रजी शास्त्री जैन समाज के गिने-चुने जैन विद्या-मनीषियों में अग्रगण्य रहे। उन्होंने वाराणसी में अध्ययन कर जैन विद्याओं के अध्यापन, अध्ययन और अनुसंधान को अपना कार्यक्षेत्र चुना। इसमें वे जीवन भर लगे रहे और अपना अमूल्य योगदान कर जैन-विद्याओं के इतिहासमें अपना नाम अमर कर गए। उनके द्वारा लिखित, सम्पादित एवं अनुवादित लगभग दो दर्जन ग्रथ इसके प्रमाण है। इनमें **'जैन लक्षणावली'** नामक अकेला एक ग्रंथ ही उनकी कीर्तिपताका को फहराता रहेगा। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर में अत्यन्त निष्ठापूर्वक कार्य किया और इसके कार्यक्षेत्रको समृद्ध किया। उन्होने समाज मे पंडित की पंगुस्थिति का मानसिक अनुभव भी किया। यही कारण है कि उन्होंने अपनी किसी भी पौध को इस क्षेत्र में नही आने दिया। उनका उदाहरण समाज में 'पंडित परम्परा' को संवर्द्धित करने की दिशा मे सोचने के लिए एक प्रेरक प्रसंग है।

पंडित जी के असामयिक निधन को वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी ने समाज की अपूरणीयक्षति माना और अपनी बैठक में पंडितजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा की सद्गति एवं शान्ति के लिए प्रार्थना और उनके कुटुम्बियों के प्रति संवेदना व्यक्त की।

सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्

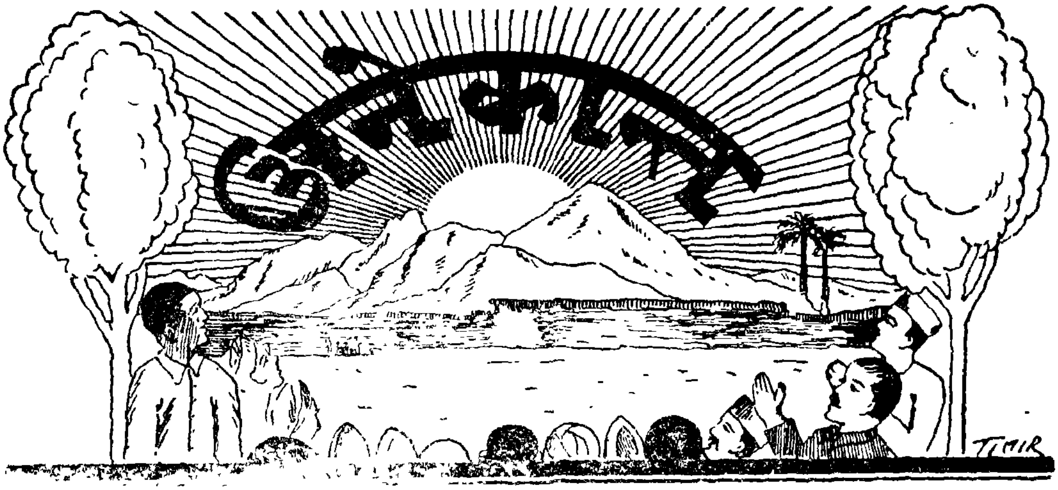

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४२ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१५, वि० सं० २०४६ | अप्रैल-जून १९८९

अध्यात्म-पद

चित चिंतके चिदेश कब, अशेष पर बमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ।। चित० ।।
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग दाघनो शमूं ।। चित० ।।
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ।। चित० ।।
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलकें त्रिसल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ।। चित० ।।
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन दूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ।। चित० ।।

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं सम्पूर्ण विभावों का वमन करूँगा और दुखदायी अष्टकर्मो की सेना का दमन करूँगा। पुन्य-पाप को छोड़कर आतम में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूँगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा। मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोडूंगा और कब मिथ्या माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊँगा। मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ।

कुन्दकुन्दाचार्य

□ इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परम्परा के सर्वमहान, सर्वाधिक प्रतिष्ठित एव प्रधान आचार्य है। महान सरस्वती आन्दोलन के नेताओ मे प्रमुख और सम्भवतया आद्य जैन ग्रन्थ प्रणेता है। वे सम्प्रदाय भेद के विरोधी और अविभक्त मूलसघ के परम समर्थक थे, साथ ही भद्रबाहु श्रुतकेवली की दक्षिणापथ परम्परा को ही वे महावीर के मूलसघ का सच्चा एव एकमात्र प्रतिनिधि मानते थे और अपने समय मे उसके प्रधान नेता थे। उनका महत्व उस सर्वप्रचलित मगल श्लोक से ही स्पष्ट है जो समस्त धार्मिक एव मागलिक कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उक्त कार्यों के प्रारम्भ मे पढा जाता है--

मगल भगवान वीरो, मगल गौतमोगणी।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

इस प्रकार स्वय भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामी के साथ कुन्दकुन्द का नाम स्मरण किया जाता है।

एपिग्राफिया कर्णाटिका के द्वितीय खण्ड मे एक श्लोक मिलता है—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने।
श्री कोण्डकुन्दनामाभू मूलसघाग्रणीर्गणी॥

जिसका तात्पर्य है कि श्रीमद् वर्धमान महावीर के वृद्धिगत धर्मशासन मे मूलसघ के अग्रणी (नेता) श्री कोण्डकुन्द नाम के गणी (मुनि) थे। भगवान महावीर के धर्मशासन का वर्धमान करने वाले मूलसघ के अग्रणी इन मुनिनायक कोण्डकुन्द का अन्वय (कुन्दकुन्दान्वय) अनेक शाखाओ प्रशाखाओ मे विस्तार पाता हुआ देशव्यापी हुआ। अधिकाश उत्तरकालीन दिगम्बर साधु अपने आप को कुन्दकुन्दान्वयी मान गौरवान्वित होते रहे है। दिगम्बर आम्नाय के नन्दि आदि तीन बड़े-बड़े सघ अपनी-अपनी परम्परा को मूलतः इसी अन्वय से सम्बन्धित करते है।

जिनवाणी की सर्वापेक्षिक श्रेष्ठता को प्रमाणित करने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र मे उसे प्रतिष्ठापित करने एव लोकप्रिय बनाने का प्रधान श्रेय इन्हे ही दिया जाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है —

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिहकोण्डकुन्दः
कुन्दप्रभा प्रणयि-कीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारु चारणकराम्बुज चञ्चरीकश्चक्रे
श्रुतस्य भरतेप्रयत. प्रतिष्ठाम्॥
(श्रवणबेल्गोल शिलालेख सख्या ५४)

उनके उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार उनके ऋणी रहे है और उनके कुछ ग्रन्थ तो परवर्ती टीकाकारो को उपयुक्त उद्धरण प्रदान करने के लिए साक्षात कामधेनु सिद्ध हुए है। उनकी अधिकाश उक्तियाँ मतवाद एव सम्प्रदायवाद से अछूती है, विशेषकर उनके 'समयसार' की तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि विभिन्न सम्प्रदायो वाले जनी ही नही बल्कि बहुत से अजैन भी भक्तिपूर्वक स्वाध्याय करते है। मौर्योत्तर एव पूर्व गुप्तकालीन प्राचीन भारत के ये सर्वमहान आत्मवादी आध्यात्मिक सन्त थे। प्रायः समस्त उत्तरकालीन अध्यात्मवादियो, निर्गुणोपासको अथवा रहस्यवादी भारतीय सन्तो के लिए कुन्दकुन्द की उक्तियाँ औपनिषादिक साहित्य के समकक्ष ही प्रमुख आधार स्रोत रहती रही।

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन से सम्बन्धित कई परम्परा कथाएँ प्रचलित है, किन्तु वे सब उनके समय से शताब्दियों पीछे गढ़ी गई प्रतीत होती है। इन पौराणिक आख्यानो जैसी कुन्दकुन्द जीवन गाथाओ मे कितना तथ्याश है यह कहना कठिन है। इन योगिराज मे अनेक चमत्कारी शक्तियाँ होने की भी अनुश्रुतियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि उन्हे चारणऋद्धि प्राप्त थी जिसके द्वारा वे आकाश मार्ग से गमन कर सकते थे, उन्होंने विदेह क्षेत्र में सीमधर

स्वामी तीर्थंकर के समवसरण में जाकर उनके दर्शन किये थे और साक्षात् केवली भगवान के मुख से धर्म श्रवण किया था, इत्यादि। किन्तु इन सब अनुश्रुतियो को ऐतिहासिक घटनाएं सिद्ध करने का कोई साधन नही है।

कर्णाटक देश के शिलालेखो मे इन आचार्य का नाम बहुधा 'कोण्डकुन्द' रूप मे पाया जाता है। इसी का श्रुति-मधुर संस्कृत रूप 'कुन्दकुन्द' है। देवसेन (विक्रम ९९० अर्थात् सन् ९३३ ई०), इन्द्रनन्दि (लगभग १००० विक्रम अर्थात् १०वी शताब्दी ईस्वी) और जयसेन (लगभग वि० १२००)[१] ने इनका उल्लेख 'पद्मनन्दि' नाम से किया है। कुछ पूर्वमध्य एवं मध्यकालीन शिलालेखों एवं ग्रन्थकारो ने वक्रग्रीव, गृध्रपिच्छ और एलाचार्य भी कुन्दकुन्द के ही अपरनाम रहे बताये है। बट्टकेरि या बट्टकेराचार्य भी उनका एक नामान्तर बताया जाता है। गिरनाट साहब के अनुसार महामति भी उन्ही का एक नाम था। किन्तु ससार देहभोगो से विरक्त वे तपोधन योगीश्वर निर्ग्रन्थाचार्य अपने सम्बन्ध मे स्वय प्राय: कोई सूचना नही देत। केवल उनकी 'बारस अणुवेक्खा' नामक एक रचना के अन्त मे उनका 'कुन्दकुन्द' नाम उपलब्ध होता है और 'बोधपाहुड' नामक एक रचना मे किये गये इस उल्लेख --

सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु ज जिणेकहिय।
सो तहकहियं णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स॥

से प्रकट होता है कि उनके गुरु भद्रबाहु थे। उनके एक टीकाकार जयसेन ने तथा प्रभाचन्द्र (लगभग ११५० विक्रम अर्थात् सन् १०९३ ई०) ने कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुमारनन्दि बताया है। नन्दिसघ की एक पट्टावली मे अर्हद्बलि के प्रशिष्य और माघनन्दि के शिष्य जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बताया है। शिलालेखों मे कुन्दकुन्द का प्राय: भद्रबाहु के उपरान्त और उमास्वामी, समन्तभद्र, सिंहनन्दि आदि के पूर्व उल्लेख किया गया है।

जहाँ तक कुन्दकुन्द के विभिन्न नामो का सम्बन्ध है, महामति तो विशेषण मात्र है—शिलालेखो से यह बात स्पष्ट है। उसे भूल से ही उनका अपर नाम समझ लिया गया है। पद्मनन्दि उनके प्रशिष्य कुन्दकीर्ति का अपर नाम रहा प्रतीत होता है, कालान्तर मे दोनो गुरुओ का भेद भूल जाने से और कुन्दकीर्ति के विस्मृत हो जाने से यह कुन्दकुन्द का ही अपरनाम प्रसिद्ध हो गया प्रतीत होता है। गृध्रपिच्छ कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वामी के उपनाम के रूप मे भी प्रसिद्ध है।[२] सम्भवतया दोनो ही आचार्यों ने मयूरपिच्छ के स्थान पर गृध्रपिच्छ का उपयोग अल्पाधिक काल के लिए किया हो इससे यह उन दोनो के लिए ही विशेषणरूप मे प्रयुक्त होने लगा हो। वक्रग्रीव नाम के एक आचार्य (लगभग ५७५ ई०)[३] द्रविड़सघ के संगठनकर्ता वज्रनन्दि (५८२-६०४ ई०)[४] के सहयोगी थे। अत. निश्चय से नही कहा जा सकता कि किसी भूल के कारण अथवा कुन्दकुन्द का एक विशेषण होने के कारण यह नाम भी उनके लिए प्रयुक्त किया गया। एलाचार्य नाम तमिल भाषा के प्राचीन सगम साहित्य मे प्रसिद्ध कुरल काव्य के मूलकर्ता का माना जाता है।[५] कुछ विद्वानो की धारणा है कि उस अपूर्व काव्य के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ही है। सम्भवतया तमिल देश मे धर्मप्रचार करते हुए उन्हे एलाचार्य नाम प्राप्त हुआ हो और इसीलिए बाद मे इसका प्रयोग उनके लिए शिलालेखादि मे हुआ। मूलाचार के कर्ता वट्टकेराचार्य नाम से प्रसिद्ध है और अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा है कि वह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की ही कृति है।[६] अत: यह (वट्टकेराचार्य,=वर्तकाचार्य=प्रवर्तकाचार्य) उन्ही का एक उपनाम रहा होगा।

जहाँ तक उनके गुरुओं का प्रश्न है, पट्टावली के जिनचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि कुन्दकीर्ति होने से जिनचन्द्र का, जो कुन्दकुन्द के लगभग ५० वर्ष बाद हुये है, उनके गुरु होने का प्रश्न ही नही है। कुन्दकुन्द के मुख्य एवं दीक्षागुरु भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम २०–४३ अर्थात् ईसापूर्व ३७—१४) ही रहे प्रतीत होते है। कुमारनन्दि, जो कार्तिकेयानुप्रेक्षा के कर्ता कुमार या स्वामी कुमार से तथा मथुरा के वर्ष ६७ या ८७ (पूर्व शक सवत्) अर्थात् विक्रम ५८ या ७८=सन् १ या २१ ईस्वी के शिलालेख में उल्लिखित कुमारनन्दी से अभिन्न प्रतीत होते है। सम्भव है उन्हे वयोवृद्ध होने के नाते कुन्दकुन्द गुरु तुल्य मानते हो—सम्भव है जब कुन्दकुन्द मथुरा (उत्तरी भारत) मे पधारे हो उस समय ये कुमारनन्दि मथुरा के तत्कालीन गुरुओं मे वृद्धप्रमुख हो और कुन्दकुन्द ने उनका गुरु तुल्य सम्मान किया हो। इसी आधार पर कालान्तर मे उनका कुन्द-

कुन्द के गुरु रूप मे उल्लेख होने लगा हो।

इसमें तो कोई सन्देह नही है कि आचार्य कुन्दकुन्द मूलतः दक्षिणापथ के निवासी थे—अधिक सम्भावना यही है कि वे द्रविड कन्नड प्रदेशो के मध्यवर्ती सीमा प्रदेश के निवासी हो। कोण्डकुन्द नाम स्वय द्रविड़ झलक लिये प्रतीत होता है और कन्नड प्रदेश का कोई स्थान नाम जैसा लगता है। तुम्बलूराचार्यआदि अन्य कई दक्षिणी गुरुओं के नाम भी उनके जन्म ग्राम के नाम पर प्रसिद्ध हुए। वर्तमान गुन्टकल रेलवे स्टेशन से ४-५ मील दूर कोण्डकुन्द नाम का एक ग्राम आज भी विद्यमान है और परम्परा विश्वास उसे कुन्दकुन्द के जीवन से सम्बन्धित करता है। इस ग्राम के निकटवर्ती पहाड़ी की गुफाओ मे उन्होंने तपश्चरण किया था ऐसा विश्वास किया जाता है। इसी प्रकार नन्दी पर्वत नाम की एक अन्य पहाड़ी को भी कुन्दकुन्द का तपस्या स्थान बताया जाता है। यह तो प्रायः स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द सुदूर दक्षिण मे उत्पन्न हुए थे, कर्णाटक देश को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया था, पाण्ड्य-पल्लव आदि द्रविड देशो मे भी उन्होने पर्याप्त प्रचार किया था और क्या आश्चर्य तमिल सगम (तमिल जैन सघ जो बाद मे तमिल साहित्यिक सगम मात्र रह गया) की स्थापना एवं प्रगति मे उन्होंने योग दिया हो। ऐसे महान युग प्रवर्तक आचार्य ने भारतवर्ष के अन्य भागो मे भी विहार किया होगा और सुदूर होने पर भी उत्तरापथ के तत्कालीन सर्वमहान जैन सास्कृतिक केन्द्र और सरस्वती आन्दोलन के स्रोत मथुरा नगर की भी यात्रा की होगी।

नन्दिसघ की पट्टावलियो से कुन्दकुन्द का समय वि० सवत् ४६—१०१ (ई० पू० ८—४४ ई०) प्रकट होता है जो प्रायः ठीक ही प्रतीत होता है। वे भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम २०—४३ अर्थात् ई० पू० ३७—१४) के साक्षात शिष्य या कम से कम प्रशिष्य अवश्य थे। मथुरा के कुमारनन्दि (विक्रम ५८—७८ अर्थात् सन् १—२१ ई०), भद्रबाहु द्वितीय के पट्टधर लोहाचार्य (विक्रम ४...—९५ अर्थात् ई० पू० १४—३८ ई०), उनके उत्तराधिकारी एव अविभक्त मूलसघ के अन्तिम सघाचार्य अर्हद्बलिगुप्तिगुप्त (विक्रम ९५—१२३ अर्थात् सन् ३८ ई०—६६ ई०), कषायपाहुड के उद्धारकर्ता आचार्य गुणधर (लगभग ५०—से ७५ विक्रम अर्थात् ई० पू० ७—१८ ई०); षट्खण्डागम के उद्धारकर्ता आचार्य धरसेन (लगभग विक्रम ९७—१३२ अर्थात् सन् ४०—७५ ई०), भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य (लगभग ५७—१०७ विक्रम अर्थात् सन् ०—५० ई०), पउमचरिउ के रचयिता विमलार्य (विक्रम ६० अर्थात् सन् ३ ई०), तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी (लगभग १००—१५० विक्रम अर्थात् सन् ४३—९३ ई०) आदि के प्रायः समसामयिक थे। जैन परम्परा में लिखित ग्रन्थ प्रणयन करने वाले प्रारम्भिक आचार्यों मे प्रमुख थे। विक्रम १२३ (सन् ६६ ई०) में अर्हद्बलि द्वारा मूलसंघ का नन्दि, सेन, देव, सिंह आदि सघों मे विभाजन करने के तथा विक्रम १३६ (सन् ७९ ई०) मे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद होने के पूर्व ही ये हुए प्रतीत होते हैं। परम्परा लिखित एवं पौराणिक अनुश्रुतिया, साहित्यगत एव शिलालेखीय उल्लेख और क्रम, अन्य प्रसिद्ध जैनाचार्यो एव ग्रन्थकारो से उनका पूर्वापर आदि सभी दृष्टियों से उनका उपरोक्त समय ठीक प्रतीत होता है। अपनी भाषा, शैली, विषय आदि की दृष्टि से भी वे आद्यकालीन ग्रन्थकार सूचित होते है। अन्य विद्वान भी उन्हें विक्रम की पहली-दूसरी शती का विद्वान अनुमान करते है। कुन्दकुन्द अपने किसी ग्रन्थ में किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ या ग्रन्थकार का उल्लेख नही करते—केवल गुरु परम्परा से प्राप्त जिनागम या द्वादशांग श्रुत के ज्ञान को ही अपना आधार सूचित करते है। उनके ग्रन्थो मे अनेक गाथाएं ऐसी है जो श्वेताम्बर आगमो में भी पाई जाती हैं—इससे भी यह प्रमाणित होता है कि उन सबका कोई अभिन्न प्राचीन मूल स्रोत था, दोनो ही परम्परा के विद्वानों ने उनके सरक्षण का प्रयत्न किया।

परम्परा सम्मत एवं बहुमान्य मतानुसार आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम सवत् ४९ अर्थात् ईसापूर्व ८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद का उपभोग करके सन् ४४ ई० मे, ८५ वर्ष की आयु मे वह स्वर्गस्थ हुए। यह भी अनुश्रुति है उन्होंने बाल्यावस्था में ही मुनि दीक्षा ले ली थी। मुनि दीक्षा के लिए न्यूनतम निर्धारित वय ८ वर्ष है, ऐसी मान्यता है। एक मतानुसार उन्होने ८ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी, दूसरे मत से ११

वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी, एक अन्य मत से उनकी पूर्ण आयु ९५ वर्ष थी। किन्तु चूंकि उनके आचार्यकाल के ईसापूर्व ८ से सन् ४४ ई० पर्यन्त रहा होने में प्रायः कोई मतभेद नहीं है, यह वृद्धि उनके जन्मकाल या मुनिदीक्षा काल मे ही सम्भव है। इस प्रकार आचार्य का जन्म ईसापूर्व ५१ या ४१ मे, अथवा उन दोनों तिथियों के बीच किसी समय हुआ। उनकी मुनि दीक्षा भी ईसापूर्व ४३, ४०, ३३ या ३० मे हुई।

मौखिक परम्परा से प्राप्त श्रुतागम के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य ने ८४ पाहुड (प्राभृत) ग्रन्थ रचे कहे जाते जाते हैं। उनके ग्रन्थों के शीर्षक प्रकरणात्मक है—उनके द्वारा वे अपने विषय मे निष्णात, प्रत्यक्षदृष्टा गुरु की नाईं सहज भाव से धर्मोपदेश करते चले जाते है—उस ज्ञान को वे स्वयं तीर्थंकर द्वारा प्रदत्त ज्ञान मानते हैं। अतः स्वय अपना नाम कर्ता के रूप में देने की कहीं भी उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नही होती। यत्र-तत्र प्रसगवश ऐतिहासिक व्यक्तियो एव घटनाओ की ओर भी दृष्टान्तरूप से संकेत कर देते है।

कुन्दकुन्दाचार्य के सुप्रसिद्ध उपलब्ध ग्रन्थ निम्न प्रकार है—

१.समयसार प्राभृत—अनेक सस्करण विभिन्न भाषाओ मे मूल, अनुवाद, प्राचीन एव नवीन टीका-व्याख्या आदि सहित प्रकाशित हो चुके है।

२. प्रवचनसार —इसके भी अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है।

३. पंचास्तिकायसार—अनेक सस्करण प्रकाशित।

४. नियमसार —प्रकाशित।

५. रयणसार —प्रकाशित।

६. अष्टपाहुड —प्रकाशित।

७. बारस अणुवेक्खा—प्रकाशित।

८. दशभक्ति —प्रकाशित।

९. मूलाचार —प्रकाशित।

कुछ अन्य पाहुड भी प्राप्त हुए है। इनके ग्रन्थो पर उत्तरवर्ती प्रौढ आचार्यों ने अनेक टीकाएं लिखी है। कुन्दकुन्द की कृतियो के प्रसिद्ध टीकाकार हैं—अमृतचन्द्राचार्य (१०वी शती) और प० रूपचन्द, प० बनारसीदास, पाण्डे हेमराज, प० जयचन्द्र (१६वी से १९वीं शती के मध्य)।

विक्रम सवत् १४५५ के एक शिलालेख मे अगपूर्वधारी आचार्यों के अन्तिम समूह के पश्चात् हुए आचार्यों का उल्लेख करते हुए कौण्डकुन्द यतीन्द्र की प्रशस्ति दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य का महत्त्व इन सबसे स्वयं प्रमाणित है।

(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

सन्दर्भ-सूची

१. अपनी 'दि जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री आफ एन्श्येन्ट इण्डिया' में पृ० १२१ और १२२ पर डाक्टर साहब ने जयसेन का समय स० ११५० ई० अकित किया है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्तिकोश की पाण्डुलिपि मे, जिससे उपर्युक्त लेख उद्धृत है, एक स्थान पर वि० १२०० को काटकर उन्होंने १०९८ ई० लिखा है। इस सशोधन का आधार अज्ञात है।

२. तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र संजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्॥
—तत्त्वार्थ प्रशस्ति, पंचम १; एपिग्राफिया कर्णाटका द्वितीय खड तथा श्रवणबेलगोल शिलालेख ६४, १२७ व २५८.

३. जैन सोर्सेज आफ हिस्ट्री आफ एन्श्येन्ट इंडिया पृ. २७४.

४. वही।

५. तमिलनाडु मे जन मान्यता यही है कि 'तिरुकुरल' के रचयिता तिरुवल्लुवर नामक कोई गृहस्थ सन्त थे, किन्तु उक्त ग्रन्थ मे जैनधर्म का विशेष प्रभाव लक्षित होने और आद्य तमिल साहित्य के पुरस्कर्ता प्रायः जैन आचार्य होने के कारण अनेक तमिल विद्वान भी इसे जैन कृति मानने पर विचार करने लगे है। स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपनी 'जैन लिटरेचर इन तमिल' मे इस कृति के कर्ता का नाम एलाचार्य बताया है और उसे आचार्य कुन्दकुन्द का अपरनाम बताया है।

६. दिल्ली के दिगम्बर जैन पचायती मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे 'मूलाचार' की एक हस्तलिखित प्रति पर लेखक रूप मे कुन्दकुन्द का नाम दिया है।

सामयिक-प्रेरणा :—

श्रुतदेवता की मूर्तियाँ खण्डित होने से बचायें

☐ डा० गोकुलचन्द्र जैन, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग

यह सांस्कृतिक चेतना का आह्वान है। विशेषरूप से दिगम्बर परम्परा के अनुयायियो के समक्ष यह चुनौती है। अपनी नादानी और गैरजिम्मेदारी के कारण हम द्वादशाग श्रुतज्ञान की अमूल्य निधि को सुरक्षित नही रख पाये। बौद्धो ने बार-बार सगीतियो का आयोजन किया। भगवान् बुद्ध के उपदेशो का सगायन किया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप त्रिपिटक मे बुद्धवचन सुरक्षित हो गये और आज संसार भर मे उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा ने भगवान् महावीर के उपदेशो को सुरक्षित करने के लिए कई बार वाचनाएँ आयोजित की। श्रुत परम्परा से जिसे जितना स्मरण रह पाया था, उसे सबके समक्ष प्रस्तुत किया। इस बात की समीक्षा की गयी कि कितना याद रह गया है, कितना विस्मृत हो गया है। पाठ भेद भी सामने आये। फिर भी अन्तत. सामूहिक प्रयत्न फलीभूत हुए। वलभी मे आगमो को पुस्तकारूढ करके सुरक्षित कर दिया गया। हजारो वर्षो से साधु-सन्त और श्रावक उस पुस्तकारूढ श्रुत ज्ञान की सुरक्षा मे निरन्तर सावधान रहे। उसी का सुफल है कि श्वेताम्बर परम्परा मे आगम और आगमिक साहित्य विपुल परिमाण मे उपलब्ध है।

दिगम्बर परम्परा मे द्वादशाग की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करने का एक भी सन्दर्भ उपलब्ध नही होता। श्वेताम्बर परम्परा मे जिन वाचनाओं के उल्लेख है, उनके विषय मे भी कोई जानकारी नही है। कारण जो भी रहे हो, पर परिणाम हमारे सामने है। दिगम्बर परम्परा मे द्वादशांग श्रुतज्ञान का एक भी मूल आगम उपलब्ध नही है। क्या हम अपने पुरखो के इस अनुत्तरदायित्व की समीक्षा करेगे ?

श्रुतज्ञान की सुरक्षा के दायित्वबोध का सर्वप्रथम उदाहरण आचार्य धरसेन का मिलता है। उसी के प्रतिफल षट्खडागम इस पीढ़ी को उपलब्ध हो सका। 'आचार्य धरसेन की चिन्ता और श्रुत सरक्षण का दायित्वबोध' (तीर्थंकर, जुलाई १९८८) शीर्षक निबन्ध मे हमने ऐसे कई विषयो की चर्चा की थी। कई ऐसे मुद्दो की ओर सकेत किया था, जिसमे हमारे वर्तमान आचार्यों, साधु-सन्तो, श्रावको, श्रीमन्तो, पण्डित-प्रोफेसरो की आँखें खुलनी चाहिए। कुछ प्रतिक्रियाये हुई भी। पर उतना पर्याप्त नही है। तीर्थंकर के सम्पादक चाहते है कि जो लेख वह छापे, उसे अन्यत्र न भेजा जाये मैंने इसका निर्वाह किया। उस लेख को प्रत्येक दिगम्बर जैन के हाथों मे पहुचना चाहिए। तीथकर के सम्पादक से मैं अनुरोध करूंगा कि वे इसका कोई मार्ग खोजे और इन 'यक्ष प्रश्नो' पर गहरी बहस करायें।

लगभग इसी लेख के क्रम मे 'आचार्य कुन्दकुन्द पर विद्यावारिधि की उपाधि' लिखा गया। एक से अधिक पत्रो मे छपा। यह मात्र समाचार नही था। कतिपय कडवी सच्चाइयाँ भी थीं। काफी प्रतिक्रियाये आयी। कुछ ने अपनी दाढी मे तिनके को सहलाया और फिर सावधानी से उसी मे खोस लिया। आचार्य कुन्दकुंद ने लिखा है कि 'अपराधी शकित होकर डरता हुआ घूमता है पर निरपराधी नि.शंक घूमता है।' (समयसार) अब स्थिति उलट गयी है। जो गलती कर रहा है, वह जान बूझकर वैसा कर रहा है। इसलिए निडर है। वह नेता है, आचार्य है, श्रीमन्त है, पण्डित-प्रोफेसर है। युवा ऊर्जा को वह बहका सकता है। सब तरह से सशक्त और सन्नद्ध है। इसलिए निडर है। आचार्य कुन्दकुन्द कह सकते है कि कही चूक हो जाये तो उसे छल न समझें—'जइ चुक्केज्ज छल ण घेत्तव्व।' आज जो भी लिखा जा रहा है, कहा जा रहा है; उसका लेखक, सम्पादक; प्रवक्ता, प्रवचनकर्ता मानता है कि **उसे सर्वज्ञभाषित माना जाये**। उसके सामने प्रश्न चिह्न लगाने का सवाल ही नहीं खड़ा होता।

इस समय ताजा सन्दर्भ आचार्य कुन्दकुन्द का है। इसलिए मुख्यरूप से उन्ही के प्राकृत ग्रन्थों की बात यहाँ कहनी है। प्रसंगतः कतिपय अन्य ग्रन्थो की बात कहना भी अपेक्षित है। गत कुछ वर्षों में भगवती आराधना, मूलाचार, गोम्मटसार के नये सस्करण प्रकाशित हुए है। इतने प्रामाणिक, साफ-सुथरे, स्वय में प्रायः पूर्ण, इसके पूर्व प्रकाशित नही हुए। इनमें जो कुछ और करण य है या अपेक्षित था, उसे सम्पादक, ग्रन्थमाला तथा सम्पादक तथा अन्य सम्बद्ध विद्वान जानते थे, जानते है। अगले संस्करणो मे इस सस्कार की आशा भी की जा सकती है। कुछ सम्बद्ध तथ्यो को यहाँ प्रस्तुत कर देना उपयुक्त होगा।

भगवती आराधना पर विद्यावारिधि की उपाधि के लिए हमने एक अनुसन्धाता का पजीयन कराया था। इससे भगवती आराधना को एक बार पुनः सूक्ष्मता से परखने का अवसर मिला। नये सस्करण को भी पूरी सावधानी से देखा। मूल ग्रन्थ की प्राकृत गाथाएँ सस्कृत टीका मे प्रतीको के रूप मे सुरक्षित है। इस सस्करण मे प्रकाशित गाथाएँ टीका के प्रतीको से मेल नही खाती। सम्पादक का इस ओर ध्यान गया होगा और इस सम्बन्ध मे प्रस्तावना मे चर्चा की गयी होगी, यह मानकर हमने प्रस्तावना को देखा। उसमे कही इसका उल्लेख नही था। सम्पादक स्वर्गीय प० कैलाशचन्द्र शास्त्री तब यही वाराणसी में थे, उन तक बात पहुंचायी। अब उनका भी ध्यान इस ओर गया। उन्होंने बहुत सहज भाव से कहा—'बहुत-सी बातो की ओर ध्यान गया, पर इस ओर ध्यान ही नही गया।' स्पष्ट है कि टीकाकार के समक्ष भगवती आराधना की उससे भिन्न पोथी रही, जिसका पाठ मूल मे छपा है। कुल मिला कर हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुचे कि मूल ग्रन्थ का नया संस्करण और अधिक पाठालोचन के साथ प्रकाशित होना चाहिए। अन्य बाते अलग है।

इसी प्रकार मूलाचार के विषय मे कई बाते सामने आयी। लगभग दो दशक पूर्व पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री ने इसके सम्पादन का कार्य आरम्भ किया था। कतिपय प्राचीन पाण्डुलिपियों के पाठान्तर भी लिए थे। फिर अस्वस्थता तथा अन्य व्यस्तताओ के कारण यह कार्य रह गया। मुझे इसकी जानकारी थी। मूलाचार पर वसुनन्दि की सस्कृत टीका है। मैंने वसुनन्दि के एक नये ग्रन्थ 'तच्चवियारो' का सम्पादन किया था और उसकी प्रस्तावना मे वसुनन्दि के समय आदि कई विषयों पर नये ढग से विचार किया था। पण्डित जी को प्रस्तावना सुनाकर उनसे चर्चा कर रहा था। प्रसगत. मूलाचार की टीका की बात आयी। मैने पण्डितजी से पूछा कि 'टीका की प्राचीन पाण्डुलिपियो मे प्राकृत गाथाओ की संस्कृत छाया है या नही?' पण्डितजी चौके। मैंने कहा कि माणिकचन्द ग्रन्थमाला के सस्करण मे छपी है। पण्डितजी ने सोचकर कहा—"मेरी समझ से पाण्डुलिपियों मे छाया नही है। फिर भी देखना पड़ेगा। वर्णी सस्थान मे दो पाण्डुलिपियाँ भी है। देखना और मुझे भी बताना।" देखने पर पता चला कि टीका मे छाया नहीं दी गई है। सच तो यह है कि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों मे अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त है, जिनकी सस्कृत छाया नहीं हो सकती, व्याख्या ही हो सकती है।

भगवती आराधना और मूलाचार दिगम्बर परम्परा मे बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते है। दोनो ग्रन्थों की शताधिक गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थो मे भी पायी जाती है। मूलाचार की गाथाएँ कुन्दकुन्द मे भी पर्याप्त सख्या मे पायी जाती है। कही-कही इसे कुन्दकुन्द का ही माना गया है। इन सब दृष्टियो से दोनो ग्रन्थो के पूर्ण प्रामाणिक मूल पाठ उपलब्ध रहना आवश्यक है।

इधर के दशको मे आचार्य कुन्दकुन्द की बहुत चर्चा हुई है। इसलिए उनके ग्रन्थो के भी अनेक सस्करण प्रकाशित हुए है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, सनातन जैन ग्रन्थमाला, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को प्रकाश मे लाने का प्राथमिक-पायोनियर कार्य किया। सोनगढ़, भारतीय ज्ञानपीठ आदि से भी कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। इधर के वर्षों मे अन्य अनेक स्थानों से कुन्दकुन्द के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये का प्रवचनसार तथा प्रो० ए० चक्रवर्ती का समयसार और पचास्तिकायसार उनकी विस्तृत एव अध्ययनपूर्ण प्रस्तावनाओ के कारण बहुचर्चित हुए। डॉक्टर उपाध्ये जीवन के अन्त तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के पूर्ण पाठालोचन पूर्वक तैयार किये गये संस्करणो की बात करते रहे।

सौभाग्य से उत्तर तथा दक्षिण भारत मे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शताधिक प्रतियाँ उपलब्ध है। इसके बावजूद अभी तक एक भी ऐसा सामूहिक उपक्रम नही हुआ, जिसमें विभिन्न कालो, विभिन्न क्षेत्रो और विभिन्न परम्पराओ की चुनी हुई विशिष्ट पाण्डुलिपियो को एक साथ रखकर मूल पाठ का पर्यालोचन किया गया हो। ऐसी कोई योजना भी अभी तक किसी सस्था की ओर से सामने नही आयी।

इसके विपरीत इन वर्षों मे कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के जो संस्करण प्रकाशित हुए है, उनसे अब यह पता लगना कठिन हो गया है कि प्राकृत गाथाओं का मूल पाठ किसे माना जाये। सब संस्करणो को साथ रखे तो अब अलग-अलग नामकरण अपेक्षित होगे। अभी तक तो सोनगढ के बहु-प्रचार के कारण लोगो ने सोनगढी ही नामकरण किया था, पर अब देहलवी, जबलपुरी, बम्बइया, इन्दौरी, उदयपुरी, जयपुरी आदि 'किसम-किसम के कुन्दकुन्द' नयी पीढ़ी को सौगात मे मिलने शुरु हो गये है। अभी तक तो प्रवचनो और व्याख्याओ के आधार पर कुन्दकुन्द के ग्रंथो को मन्दिरों मे रखने और बाहर फेकने के आन्दोलन हो रहे थे, अब श्रुतदेवता की इन खण्डित मूर्तियो का विसर्जन कहाँ करेगे? हर हुजूम 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' कहता हुआ, दूसरे सभी को धकियाता हुआ आगे बढ़ जाना चाहता है। इसे पता नही कि जिस शून्य मे यह भीड़ बढ़ रही है, उसके छोर पर गहरा महासागर है। प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थो के साथ यह खिलवाड जारी रही तो जिसे हम जिनवाणी कहते है, श्रुतदेवता कहते है, उसकी एक भी मूर्ति अखडित नही बचेगी। इस सकट की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द के इन प्रकाशनो के साथ जब श्रद्धेय आचार्यों, प्रतिष्ठित पण्डितो, प्रोफेसरो के नाम जुड जाते है, तब यह समझ पाना मुश्किल हो जाता है कि यह सब क्या हो रहा है, क्यो हो रहा है, कैसे हो रहा है। हम जैसे अध्ययन-अनुसन्धान कार्यों मे लगे लोग, जो एक ओर इन परम श्रद्धेय आचार्यों और विद्वानो से जुड़े हो, दूसरी ओर अध्ययन-अनुसन्धान की वैज्ञानिकता के प्रति भी प्रतिबद्ध हों, उनके समक्ष बड़े असमजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। **अब तो प्राचीन प्राकृत सिद्धान्त ग्रंथों को व्याकरण और छन्दों के अनुसार बदलने का सिलसिला भी शुरु हो गया है।** ग्रन्थ छपते है और निःशुल्क वितरित हो जाते है। वे ग्रन्थ ऐसे विद्वानो के पास नही पहुंचते, जो ईमानदारी से इन्हे पढे और कुछ गलत लगे तो उसे साहस पूर्वक कह सके। यदि यह सिलसिला जारी रहा तो मात्र कुन्दकुन्द के ही नही दिगम्बर परम्परा के सभी प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ बदल जायेंगे। तब वे सभी भगवान् महावीर से एक हजार वर्ष बाद के स्वत: सिद्ध हो जायेंगे।

प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन के लिए पाठालोचन के सिद्धान्त अब ससार भर मे प्रसिद्ध हो चुके है। उन पर पुस्तकें प्रकाशित है। पाठालोचन के सिद्धान्तो को आधार बनाकर रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथों का भी सम्पादन हो चुका है। कुन्दकुन्द के ग्रंथो का पाठालोचन असम्भव कार्य नही है! परिश्रमसाध्य अवश्य है। व्यय और समयसाध्य भी है। जय बोलने और जश्न मनाने से यह सम्भव नही है। उन पडितो, प्रोफेसरों से भी इसकी अपेक्षा नही की जा सकती जो **गंगा जाकर गंगादास और जमुना जाकर जमनादास** हो जाते है। डॉ० हीरालाल जैन डॉ० ए एन. उपाध्ये, प. हीरालाल शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैसे विद्वान अब नही रहे, जो इस महत् कार्य को अपने अनुभवी हाथो सम्पन्न करते। अब तो नयी पीढी के विद्वानो और युवा नेतृत्व को इसके लिए आगे आना होगा। विद्वान् आचार्यों और सन्तो को इस कार्य के लिए मार्गदर्शन करना होगा। **नये नये समयसार और महापुराणों को रचने का महारंभ त्यागकर श्रुतदेवता की मूर्तियों को खंडित होने से बचाने का संकल्प लेना होगा।**

आचार्य कुन्दकुन्द के ऐसे प्रकाशित ग्रन्थों के अशुद्ध और एक दूसरे सस्करणो के परस्पर विरोधी मूल पाठों को यहाँ दोहराना हम उपयुक्त नही समझते। स्वय पढ़े और मिलान करे तो स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जायेगी। विपरीत दिशा में बह रहे इस प्रवाह को रोकना होगा।

—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आवासीय पता : ४६ विजयनगर कालोनी, भेलूपुर, वाराणसी-२२१०१०

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी साहित्य-सृजन में दृष्टि

□ डा० कमलेश कुमार जैन, जैनदर्शन-प्राध्यापक

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के सन्दर्भ में प्रायः यह आम धारणा बन चुकी है कि उन्होंने जो भी साहित्य-सृजन किया है, वह मुनियों को ध्यान में रखकर किया है, अथवा आध्यात्मिक है। किन्तु मेरे विचार से यदि विद्वानों ने उनके साहित्य के सन्दर्भ में उक्त प्रकार की धारणा बना ली है तो वह ऐकान्तिक ही होगी। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को समग्र दृष्टि से देख पाना हम लोगों के लिए सम्भव नही है। उनके साहित्य पर विचार करते समय हमें आचार्य कुन्दकुन्द जैसी विस्तृत विशाल दृष्टि को अपनाना होगा। हमें उनके अन्तस् में झांककर विचार करना होगा, तभी हम उनके साहित्य का मूल्यांकन कर सकेंगे। अन्यथा उन कुन्दकुन्द मणियों को ऊपर से स्पर्श करके उनके चाकचिक्य आदि पर भले ही विचार कर लें, किन्तु उनका समग्र मूल्यांकन करना सामान्य लोगों की बुद्धि के बाहर का विषय है।

जब हम आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को आध्यात्मिक दृष्टि से देखते है तो हमें उनके साहित्य मे पदे-पदे अध्यात्म के दर्शन होते है। जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखते है तो तत्त्वज्ञान के दर्शन होते है और इसी प्रकार जब हम मुनियों के आचार-विचार की दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो उनके साहित्य मे मुनियों के आचार-विचार के दर्शन होते है। किन्तु ये सभी पृथक्-पृथक् पहलू हो सकते हैं। उनका एक-एक पक्ष हो सकता है, पर यह उनके साहित्य का समग्र मूल्यांकन नहीं है।

हम लोगो के पास अपने-अपने पात्र हैं और हम लोग उन पात्रों की क्षमता के अनुरूप अपने-अपने पात्रो में ज्ञान-राशि संजो लेते है। वास्तविकता यह है कि जब हम उनके द्वारा सृजित साहित्य की किसी एक भी गाथा को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, मनन करते है, उसकी परीक्षा करते हैं तो हमारी बुद्धि की स्वयमेव परीक्षा हो जाती है और हमें अपने ज्ञान के उथलेपन का सहसा आभास होने लगता है।

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन समाज में केवल एक आचार्य के रूप मे ही प्रतिष्ठित नही हैं, अपितु वे भगवान् कुन्दकुन्द के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जब हम किसी महापुरुष के नाम के आगे भगवान् विशेषण लगाते हैं तो हमारी यह अपेक्षा होती है कि वे सर्व कल्याण की बात करें। लोक मङ्गल की बात करें। उनके द्वारा सृजित साहित्य में जन कल्याण की मङ्गल भावना समाहित हो। इस कसौटी पर यदि हम आचार्य कुन्दकुन्द को प्रस्तुत करें तो हमे ज्ञात होता है कि उनके समग्र साहित्य में महात्मा बुद्ध की तरह बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की भावना नहीं है, अपितु उनके साहित्य में भगवान् महावीर के उपदेशो से अनुप्राणित सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की लोक-कल्याणकारी मङ्गल भावना का पदे-पदे उद्घोष है।

जब वे अहिंसा का उपदेश देते हैं तो वे सीधे-सीधे यह कभी नही कहते कि हिंसा नहीं करनी चाहिए, अपितु वे इस उपदेश से भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए सर्वप्रथम यह बतलाते हैं कि हिंसा के कौन-कौन स्थान हैं? मनुष्य के किन किन कार्यों से हिंसा सम्भव है आदि। और अन्त में उनसे विरत होने का उपदेश देते हैं। क्योंकि जब तक हम सम्यक्रीत्या यह नहीं जान लेंगे कि जीवों के कुल-भेद, उत्पत्ति स्थान अथवा योनि-भेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद आदि कौन-कौन हैं? तब तक उनकी हिंसा से विरत होना सम्भव नहीं है। इन सबके भेद-प्रभेदों का विवेचन आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार पर लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक अपनी टीका मे विस्तार से किया है।[1]

अब यहाँ दो पक्ष विचारणीय हैं। प्रथम पक्ष वह है, जिसमे जीवो के स्थान आदि को जानकर उनसे विरत

रहने का उपदेश दिया है। इस पक्ष में जो जीव परजीवों के घातरूप हिंसा से विरत होता है, अथवा विरत रूप परिणामो का कर्त्ता होता है, उससे वह मुक्ति को प्राप्त करता है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का आध्यात्मिक पक्ष है।

दूसरा पक्ष यह है कि जब आचार्य कुन्दकुन्द जीवों के उत्पत्ति-स्थान आदि की विवेचना करते हैं तो उससे तीन लोक के जीवों की रक्षा एक सामान्य प्राणि अपने आचार-विचार अथवा परिणामो के माध्यम से कैसे कर सकता है? इसका समावेश है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का लोक कल्याण की भावना का उत्तम पक्ष है। यद्यपि जैनदर्शन मे साधु को स्वार्थी-आत्मार्थी बनने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि स्वार्थी-आत्मार्थी ही परमार्थी है, किन्तु चूंकि हम स्वयं लोक मे रहते हैं, इसलिए लोककल्याण की भावना ही हमारे जीवन मे प्रमुख है। अतः लोककल्याण की भावना को उत्तम पक्ष कहना युक्तियुक्त है।

इसके अतिरिक्त और अनेकानेक पक्षो मे से एक अन्य पक्ष भी सम्भव है और वह है आचार्य कुन्दकुन्द का मनोवैज्ञानिक पक्ष। वे जीव की मनोदशाओं का विश्लेषण करने मे सिद्धहस्त है। अद्वितीय है। यह बात उनके द्वारा किये गये जीवो के भाव विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

जिस भाषा के कारण आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट पहचान है। जिस भाषा के लिए डॉ० पिशल ने एक विशेष प्रकार की प्रकार की प्राकृत घोषित करते हुए जैन शौरसेनी प्राकृत नाम दिया उसी प्राकृत को अब हम परिवर्तित कर सामान्य प्राकृतो का रूप दे रहे है और आचार्य कुन्दकुन्द के इस द्विसहस्राब्दि समारोह के अवसर पर जहाँ उनके भक्त हम लोग उनके नाम और काम को प्रकाश मे लाने का प्रयास कर रहे है, **कुछ लोग उनकी विशिष्ट प्राकृत का परिवर्तन करके उनकी पहचान खोने में लगे है। यह खेद का विषय है।**

सम्प्रति विद्वानो द्वारा मान्य छः प्राकृत भाषाएँ हैं, जिनकी उत्पत्ति काल-भेद अथवा स्थान-भेद के कारण हुई है। अतः तत् तत् प्राकृत भाषाओ मे तत्कालीन अथवा तत्स्थानीय सस्कृति का समावेश है। ऐसी स्थिति मे उन-उन प्राकृतो का किसी एक प्राकृत अथवा काल-विशेष की प्राकृत मे समावेश करना अथवा जैन शौरसेनी प्राकृत का अन्य प्राकृत अथवा प्राकृतों में परिवर्तन करना तत्कालीन अथवा तद्देशीय संस्कृति का लोप करना है। अतः **उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तन जनहित में नहीं है। साथ ही इस परिवर्तन से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का भी ह्रास होगा, विशेषकर दिगम्बर संस्कृति का, इसमें सन्देह नहीं।**

आचार्य कुन्दकुन्द जिस समय पैदा हुए उस समय संस्कृत भाषा विद्वज्जन मान्य थी। अतः अपने को विद्वानो की श्रेणी मे लाने के लिए संस्कृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना करना गौरव की बात थी। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने वर्गविशेष की भाषा की उपेक्षा की और तत्कालीन जन-भाषा, जो प्राकृत थी, उसमें अपने साहित्य का सृजन किया। यह उनकी भाषा विषयक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति के मूल मे आचार्य कुन्दकुन्द की लोकमगल भावना ही प्रधान थी। वे जन-जन के आचार्य थे। उनके विचार सामान्यजनो की भाषा मे सामान्यजनों के लिए थी। उनके साहित्य के माध्यम से सामान्य पढा-लिखा व्यक्ति भी आत्म-तत्त्व का बोधकर स्व-पर कल्याण के लिए प्रयत्न कर सकता था।

उपर्युक्त कथन के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य अध्यात्म से ओतप्रोत तो है ही, साथ ही लोकमंगल की भावना से भी अनुस्यूत है।

आचार्य कुन्दकुन्द को द्रव्यानुयोग का विशेषज्ञ माना जाता है, किन्तु वस्तुतः वे चारों अनुयोगों के विशिष्ट ज्ञाता थे। द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत लिखे गये साहित्य का अन्तरङ्ग परीक्षण-अनुशीलन करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी था। वे आचार की चर्चा करते हुए अन्त मे निश्चयनय के माध्यम से आत्मतत्त्व पर पहुच जाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतने सजग है, रचे-पचे है कि जाने और अनजाने में भी वे लक्ष्य से चूकते नहीं हैं। लक्ष्यभ्रष्ट नही होते हैं। ये सभी आचार्य कुन्दकुन्द के अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के सबल प्रमाण है।

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को स्थूल रूप से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—आध्यात्मिक

साहित्य और तत्त्वज्ञान विषयक साहित्य। समयसार आ० कुन्दकुन्द की विशुद्ध आध्यात्मिक रचना है। इस ग्रंथ का प्रणयन भारतवर्ष के उस अतीत काल में हुआ है, जब आध्यात्मिक विद्या पर सर्व साधारण जनों का अधिकार नही था, अपितु वह विद्या कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों मे सिमटकर रह गई थी तथा जिसे वे ब्रह्मविद्या के नाम से अभिहित करते थे। उनकी दृष्टि मे यह गूढ़विद्या थी। अत. वे इसके रहस्यो को कुछ तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों तक ही सीमित रखना चाहते थे। उस ब्रह्मविद्या को साधारण जनों से सुरक्षित रखने के लिए संस्कृत भाषा का कवच के रूप मे प्रयोग किया जाता था, जो सर्वजनगम्य नही थी।

वस्तुतः जीव मात्र को आत्म-विकास का जन्मसिद्ध-नैसर्गिक अधिकार है। और न्याय प्राप्त इस अधिकार का सार्थक प्रयोग तभी सम्भव है, जब हमे अपने पूर्वजो द्वारा किये गये सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और विशेषकर आध्यात्मिक प्रयोगो का लाभ समाज के द्वारा विरासत में प्राप्त हुआ हो, अन्यथा यदि हमे अपने पूर्वजों द्वारा विरासत मे ज्ञान प्राप्त नही होता है तो हम विकास के प्रथम सोपान से आगे नही बढ़ सकते हैं।

वह एक ऐसा समय था जब इन आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों को सार्वजनिक रूप से प्रकट करने पर न केवल उन ब्रह्मवादियों द्वारा प्रताड़ित किया जाता था, अपितु राजदण्ड भी प्राप्त होता था, जो कभी-कभी मृत्युदण्ड के रूप मे भी परिवर्तित हो जाता था। ऐसी नाजुक परिस्थितियो मे जनता की भाषा प्राकृत भाषा में जनता के चहेते आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा जनता के लिए आध्यात्मिक विद्या का उपदेश सचमुच एक क्रान्तिकारी कदम था, जो आचार्य कुन्दकुन्द के अदम्य शौर्य, साहस, निर्भयता और आत्मशक्ति को प्रकट करता है। उनका व्यक्तित्व हिमालय के शिखरों की तरह उत्तुंग, सागर की गहराइयों की तरह गम्भीर और आकाश की तरह विराट् था। वे असाधारण वैदुष्य के धनी थे। वे मुनियों में मुनिपुङ्गव और आचार्यो के आचार्य थे। इसीलिए उनके प्रति बहुमान व्यक्त करने के लिए हम उन्हे आज भी भगवान् कुन्दकुन्द के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द को यह समग्र ज्ञान-राशि भगवान् महावीर की आचार्य परम्परा से प्राप्त थी, किन्तु जिन सरल शब्दों मे गाथाओं के माध्यम से उन्होने प्रस्तुत किया है, वह स्तुत्य है।

एक आदर्श आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित होने के बावजूद आचार्य कुन्दकुन्द एक स्थान पर कहते है कि यदि उनके कथन मे कही पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ-आत्मज्ञ ठीक कर लें।[3] यह कथन उनके निरभिमानी होने का सूचक है। किन्तु इस बात से भी वे प्राणियो को सावधान करने से नहीं चूकते है कि ईर्ष्यावश कुछ लोग सुन्दर कार्य की निन्दा करते हैं। अत: उनके वचनो को सुनकर जिनमार्ग मे अभक्ति न करें, जिनमार्ग की अवहेलना न करें।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा निबद्ध गाथाएँ जहाँ समवाय रूप से ग्रन्थविशेष का प्रतिनिधित्व करती है, वही एक-एक गाथा मुक्तको का रूप भी धारण करती है। उस गाथा को आप कही भी किसी भी रूप मे प्रस्तुत करे, वह अपने मे समाहित समग्र अर्थ को एक साथ कह देगी। उसके लिए किसी पूर्वापर प्रसग की आवश्यकता नही है।

प्रवचनसार की एक गाथा देखिए—

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥[4]

अर्थात् साधु के लिए आगम नेत्र है, समस्त ससारी जीवों के लिए इन्द्रियाँ ही नेत्र है, देवताओं के लिए अवधिज्ञान नेत्र है और सिद्ध भगवान् सब ओर से नेत्र वाले है।

इसी प्रकार प्रवचनसार की एक अन्य गाथा देखिए -

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[5]

अर्थात् जो कर्म अज्ञानी व्यक्ति के सौ हजार करोड़ पर्यायों में विनष्ट होते हैं, वे ही कर्म ज्ञानी व्यक्ति के मन, वचन, काय की क्रिया के विरोध रूप त्रिगुप्ति से सयुक्त होने पर उच्छ्वास मात्र मे विनष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार की सैकड़ो गाथाएँ उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के ये चिन्तन सूत्र निश्चय ही हिन्दू शास्त्रों में उल्लिखित 'ऋषयः क्रान्तदर्शिनः' की लोकोक्ति को सार्थक करते हैं और एक श्रेष्ठ ऋषि की अनुभूतियो को उजागर करते हैं।

पूर्व परम्परा से चाहे कितनी ही विपुल ज्ञानराशि हमें क्यो न प्राप्त हो, किन्तु जब तक उसमें स्व की-निज की अनुभूति-निजानुभूति का अनुपान नही होगा, तब तक उसको साधिकार कहना मुश्किल है। चूंकि कुन्दकुन्द के साहित्य मे स्वानुभूति का योग है, अतएव सर्वोत्कृष्ट है। यदि कुन्दकुन्द के साहित्य में निजानुभूति का योग न होता तो उनके साहित्य के स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती थी, मोक्ष-मार्ग की युक्ति की नही और मुक्ति की तो कदापि नही।

अर्थात् कुन्दकुन्द और उनके साहित्य के सन्दर्भ में उपर्युक्त पक्षों को प्रस्तुत करते हुए अन्त मे इतना विशेष कहना चाहूंगा कि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में दृश्य भले ही अनेक हों, किन्तु दर्शनीय एक है और वह है निजात्मा।

।। जय कुन्दकुन्दाचार्य ।।

—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. द्रष्टव्य, नियमसार, गाथा ४२ की टीका।
२. नियमसार, गाथा १८५।
३. नियमसार, गाथा १८६।
४. प्रवचनसार, ३/३४।
५. प्रवचनसार, ३/३८।

अमृत-कण

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है और यह जीव शरीर को ही आत्मा मान रहा है कि मैं ही यह हूँ। इसी भूल के कारण अनन्तानन्त काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। आत्मा तो अजर, अमर, अखण्ड व अविनाशी है—रूप, रस, गध कुछ नही है—अरूपी है। एक क्षेत्रावगाही होते हुए भी अलग-२ है। परम निरंजन, ज्ञाता-दृष्टा एक रूप है और स्वतंत्रद्रव्य है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, भेदविज्ञान द्वारा सर्वरागादि से अपने को जुदा विचारने से स्वानुभव प्रकट होता है।

आत्म-ज्ञान चिन्तामणि रतन के समान है, सब आकुलताओं का अंत करने वाली है। आत्मा गुणों का समूह है। शुभ और अशुभ कर्मो के उदय के आने पर सावधान रहना चाहिए। शुभ के आने पर हर्ष और अशुभ के आने पर विषाद नही करना चाहिए। हर्ष और विषाद करने से नये कर्मो का बंध होता है। अपने परिणामों की हर वक्त संभाल रखनी चाहिए, ताकि नये कर्म न बंधें—स्वानुभूति के समय पांचों इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता, मन भी शान्त होता है। मन भी ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय के विकल्प से रहित होकर स्वयं ज्ञानमय हो जाता है। आत्मा ज्ञाता, दृष्टा और ज्ञान-गुण का भण्डार है, स्वानुभूति के लिए तीनों समय दो-दो घरी ध्यान लगाना जरूरी है। ध्यान की सिद्धी से आत्मस्वरूप में लीनता होती है और आत्म-लीनता से मुक्ति होती है।

—**शीलचन्द जैन जौहरी**

११, दरियागंज, नई दिल्ली-२

आचार्य कुन्दकुन्द का अप्रकाशित साहित्य

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

आचार्य कुन्दकुन्द का सबसे विलक्षण उपहार उनका साहित्य है। जो विगत दो हजार वर्षों से सर्वाधिक चर्चित साहित्य रहा है। उनके समयसार प्रवचनसार जैसे ग्रंथों के नाम उनके बाद होने वाले सभी आचार्यों, साधुओं, भट्टारकों, पंडितों, कवियों, टीकाकारो एवं स्वाध्याय प्रेमियो को याद रहे हैं और यही कारण है उनका स्वाध्याय, पठन-पाठन, लेखन-लिखावन, टीकाकरण, भाषाकरण सभी कार्य अबाध गति से होते रहे और आज उनका ढेर सारा साहित्य पाण्डुलिपियो एवं छपे हुए ग्रंथो के रूप मे उपलब्ध हो रहा है। उनके ग्रथों में भी समयसार सबसे उत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसलिए समयसार का स्वाध्याय प्रवचन एवं मनन चिन्तन प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक माना गया है यही कारण है कि स्वाध्याय प्रेमी अपने आपको समयसारी कहलाने में गौरव अनुभव करने लगे। आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन जैसे धाकड़ (प्रभावशाली) आचार्यों ने उन पर टीकाएँ लिखकर उनको लोकप्रिय बनाने मे सर्वाधिक योग दिया। इन टीकाओ के कारण समयसार एवं प्रवचनसार पचास्तिकाय जैसे ग्रथो का और भी प्रचार प्रसार हो गया और इन टीकाओ के आधार पर उनका धड़ल्ले से स्वाध्याय होने लगा। यही नही प्रवचन कर्ताओ ने अपने आत्मा-परमात्मा, निश्चय व्यवहार, उपादान निमित्त, भेद विज्ञान जैसे विषयो को अपने प्रवचनों को मुख्य आधार बनाया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि ८४ पाहुड ग्रथों की रचना की थी लेकिन उनमें से अब तक २३ पाहुड ग्रथ मिल सके हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

१. समयसार, २. प्रवचनसार, ३. पंचास्तिकाय, ४. नियमसार, ५. बारस-अणुवेक्खा, ६. दंसण पाहुड, ७. चारित्त पाहुड, ८. सुत्त पाहुड, ९. बोध पाहुड, १०. भाव पाहुड, ११. मोक्ख पाहुड, १२. लिंग पाहुड, १३. शील पाहुड, १४. रयणसार, १५. सिद्ध भक्ति, १६. श्रुत भक्ति, १७. चारित्त भक्ति, १८. योगि भक्ति, १९. आचार्य भक्ति, २०. निर्वाण भक्ति, २१. परमेष्ठि भक्ति २२. थोस्सामि थुदि तथा २३. मूलाचार।

उक्त २३ ग्रंथों के अतिरिक्त तिरूकुरल को भी कुछ विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानते है।

इन ग्रंथों पर सस्कृत टीकाओ के अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने हिन्दी भाषा में भी विषद टीकाएँ लिखी हैं। संस्कृत टीकाओ में अमृतचन्द्र एवं जयसेन की टीकायें प्रकाशित हुई हैं और हिन्दी टीकाओ मे केवल पं० राजमल्ल एव पं० जयचन्द छाबडा की प्रकाशित टीकायें ही हमारे देखने मे आई है। प० बनारसीदास का समयसार नाटक यद्यपि गाथाओं का हिन्दी रूपान्तर नही है लेकिन उसका भी आधार समयसार ही है। समयसार नाटक भी कई संस्करणो में प्रकाशित हो चुका है लेकिन उक्त प्रकाशित टीकाओ के अतिरिक्त अभी कुछ सस्कृत एव हिन्दी टीकायें और है जिनका प्रकाशन अभी तक नही हुआ है और टीकाकारों के हार्द को जानने के लिए उनका प्रकाशन आवश्यक है। अभी समयसार का एक सुन्दर संस्करण आचार्य जयसेन की संस्कृत टीका एव आचार्य ज्ञानसागर जी की हिन्दी टीका तथा आचार्य विद्यासागर जी महाराज के हिन्दी पद्यानुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

समयसार की सस्कृत टीकाओ मे भट्टारक शुभचन्द्र की अध्यात्म तरंगिणी, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की समयसार टीका एव नित्य विजय की कलश टीका का अभी तक प्रकाशन नही हुआ है। यद्यपि ये टीकाये अमृतचन्द्र एव जयसेन की टीकाओ के स्तर की नही हैं लेकिन प्रत्येक टीका की अपनी-अपनी विशेषता होती है और उन

विशेषताओं को जानने के लिए उनका प्रकाशन आवश्यक है।

समयसार की हिन्दी टीकाओ मे कविवर दौलतराम कासलीवाल एव प० सदासुख दास जी कासलीवाल की टीकायें अभी तक अप्रकाशित हैं। दोनों ही विद्वान अपने-अपने युग के बहुत बड़े विद्वान थे। इसलिए उनकी टीकाओं का प्रकाशन इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

प्रवचनसार पर सस्कृत मे अमृतचन्द्र, जयसेन, प्रभाचन्द्र एव मल्लिषेण ने टीकाये लिखी है। करीब ५० वर्ष पूर्व डा० उपाध्ये ने प्रवचनसार का आचार्य अमृतचन्द्र, जयसेन एव प० हेमराज की हिन्दी सहित अपनी खोजपूर्ण प्रस्तावना के साथ प्रकाशित कराया था। इसके पश्चात अजमेर से आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने मूलगाथाओ को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया था। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका अभी तक अप्रकाशित है। मल्लिषेण की सस्कृत टीका का डा० उपाध्ये ने उल्लेख किया है लेकिन राजस्थान के शास्त्र भण्डारों मे अभी तक इस टीका की उपलब्धि नही हो सकी है। इसलिए मल्लिषेण टीका की खोज की विशेष आवश्यकता है।

प्रवचनसार की हिन्दी टीकाओं मे केवल हेमराज की हिन्दी गद्य टीका का ही प्रकाशन हुआ है, इसकी हिन्दी पद्य टीका अभी तक अपने प्रकाशन को बाट जोह रही है। इसके अतिरिक्त जोधराज गोदिका, प० देवीदास एव पं० वृन्दावन दास ने भी हिन्दी पद्य टीकाएँ लिखी थी। ये सभी टीकाएं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जो प्रवचनसार के रहस्य को पाठको के सामने रखती है, इसलिए इन सभी टीकाओ का प्रकाशन आवश्यक है।

पचास्तिकाय आचार्य कुन्दकुन्द के उन ग्रंथो मे से है जिसको नाटक त्रय मे स्थान प्राप्त है। पचास्तिकाय पर भी आचार्य अमृतचन्द्र एव जयसेन की संस्कृत टीकाएँ मिलती है। और दोनो का ही प्रकाशन हो चुका है लेकिन अभी तक प्रभाचन्द्र की टीका का प्रकाशन नही हुआ है।

इनके अतिरिक्त ब्रह्मदेव ने भी समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय इन तीनों पर अमृतचन्द्र एवं जिनसेन के समान ही संस्कृत टीकाएँ लिखी थीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है, लेकिन इन टीकाओं की अभी तक कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नही हो सकी है और जिनके खोज की आवश्यकता है।

पंचास्तिकाय की महत्त्वपूर्ण हिन्दी टीकाओं में प० हेमराज, हीरानन्द और प० बुधजन की हिन्दी पद्य टीकाएँ महत्त्वपूर्ण है लेकिन अभी तक किसी भी टीका का प्रकाशन नही हुआ है। हेमराज एव हीरानन्द की हिन्दी टीकाएँ १७वी शताब्दी की एव प० बुधजन ने १९वी शताब्दी मे पंचास्तिकाय का महत्त्वपूर्ण पद्यानुवाद किया था। ये सभी पद्यानुवाद अप्रकाशित है और प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का अष्ट पाहुड भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अष्ट पाहुड पर पं० जयचन्द्र की हिन्दी गद्य टीका मिलती है जो प्रकाशित हो चुकी है लेकिन षट् पाहुड की हिन्दी पद्यानुवाद देवीसिंह छाबड़ा ने संवत् १८०१ में पूर्ण किया था जो अभी तक अप्रकाशित है। १८वी शताब्दी में भूधर कवि ने संस्कृत मे भी षट् पाहुड पर टीका लिखी थी वह भी अप्रकाशित है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के मूल ग्रथ तो कितने ही स्थानो से प्रकाशित हो चुके है लेकिन उनकी सस्कृत एवं हिन्दी टीकाये अभी तक अप्रकाशित हैं, जिनका प्रकाशन द्विसहस्राब्दी वर्ष की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायेगी।

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर की ओर से प्रवचनसार, पंचास्तिकाय एवं षट्पाहुड की अप्रकाशित हिन्दी पद्य टीकाओं के प्रकाशन की योजना विचाराधीन है। यदि समाज का सहयोग मिला तो अकादमी द्विसहस्राब्दी वर्ष मे ही इन सबके प्रकाशन हो सकेंगे।

८६७ अमृत कलश,
किसान मार्ग टोंक रोड,
जयपुर-१५

बूँद बूँद रीते जैसे आँजुलि को जल है

□ ला० शान्तिलाल जैन कागजी

आज जो ज्ञान उपलब्ध है उसके हिसाब से संसार मे पांच सौ करोड़ मनुष्य हैं। इन मनुष्यों मे ५० प्रतिशत तो ऐसे हैं जिनको खाने-पीने और भोग-विलास के सिवाय कुछ पता ही नहीं है और ना ही उन्हें कोई मार्गदर्शन देने वाला है। ४० प्रतिशत मनुष्य ऐसे हैं जो अपनी चली आ रही परिपाटी से बंधे है। १० प्रतिशत अर्थात् ५० करोड़ बाकी रहे उनमें भी अनेक मत-मतान्तर है। अब हम अगर इन ५० करोड़ में बंटवारा करें तो जो अपने को जैन कहते हैं उन चार प्रतिशत अर्थात् दो करोड पर बात सिमट कर रह गई। पर इन दो करोड़ जैनो में भी अनेक जगह बँटे है। इनमें डेढ करोड तो ऐसे है, जिनको जैन धर्म के प्रति कुछ पता ही नही—कुटुम्ब में जैन कहने की परिपाटी चली आ रही है, सो अपने को जैन कहते हैं। शेष बचे पचास लाख, सो उनमें भी स्थानकपंथी, मन्दिरपंथी श्वेताम्बर-दिगम्बर, तेरापंथी आदि अनेक मान्यताओं के मानने वाले मिलेगे। अब बात कुछ हजार पर आ गई। उनको भी कहाँ समय है कि वस्तु का विचार करें? कोई पूजा ही पूजा में लगा है, कोई दर्शन मात्र से ही तृप्त है, कोई गुरु-भक्ति मे लगा है, कोई मन्दिर आदि बनवाने मे ही सुख मानता है, कोई समाज सेवा में संलग्न है, कोई घर मे ही फँसा है, स्त्री में, पुत्र में, कुटुम्बी जनों में या व्यापार आदि में लगा है या पैसा इकट्ठा करता है, कुछ दान भी करता है, कुछ धर्म का प्रचार भी करता है, कुछ ज्ञान का प्रचार भी करता है और यह प्रक्रिया रोज चल रही है—जैसे प्रातः उठता है, नहाता-धोता है, मन्दिर आदि जाता है और अपनी आजीविका की तलाश में निकल जाता है। उसी प्रकार जो कुछ धार्मिक कार्य हो रहा है वह सब रोज रौटीन जैसा हो रहा है, उसमें अपनी वस्तु जो आत्मा है उसका ध्यान किसे, कब और कहाँ है? अर्थात् नहीं है। समय तो बीत रहा है। मैं जैन-कुल में मनुष्यगति, नीरोग-शरीरी हूं—जिनवाणी का समागम भी है, कहीं गुरु भी मिल जाते हैं और जीविका भी ठीक है। यह सब अनुकूल मिला है। परन्तु हम क्या इससे लाभ ले रहे है—आत्महित कर रहे है? अगर हम विचार करे कि हमें यह सब अनुकूल समागम बड़े ही पुण्य से मिला है जो अति दुर्लभ है और हम इस समागम को ससार बढ़ाने मे ही लगा रहे है। तो फिर सोचिए, वह कौन-सा समय आयेगा जब हम अपना हित कर पाएँगे? यह सच है कि समय काफी बीत गया है किन्तु अब भी काफी समय बाकी है अगर हम अब भी अपनी आत्मा की ओर उन्मुख हो जावे तो बात बन सकती है। पहिले बताया गया है कि हमारी गिनती कुछ हजारो मे तो आ गई है अब आखिरी पेपर बचा है उसकी तैयारी करनी है। अगर हम आज से ही उसकी तैयारी में लग जाएँ तो मेरा विश्वास है कि एक दिन आएगा कि हम परीक्षा में जरूर उत्तीर्ण हो जाएँगे।, बस जरूरत है लगन की। और वह लगन कही बाहर से नही आएगी, हमारे ही अन्दर से मिलेगी।

बाहरी वस्तु तो पर है वह हमको प्रेरणा तो दे सकती है किन्तु परिणमन तो हमारा ही होगा अर्थात् हम ही कारण हैं और हम ही कार्य हैं। इस तरह कारण और कार्य मे न तो समय का भेद है और न ही स्थान भेद है। आत्म के कल्याण मे पर की कुछ आवश्यकता ही नही है जो कुछ भी लेना है अन्दर ही मिलेगा।

फिर हम इधर-उधर क्यो भटके? सजातीय या विजातीय द्रव्य हमारा कुछ हित या अहित नही कर सकता—वह तो पर है। और पर तो पर ही है उस पर दृष्टि क्यों? दृष्टि तो अपने मे ही लगानी पड़ेगी। आत्मा के उत्थान में आत्मा के ही निर्मल परिणाम कारण पड़ेंगे—पर के नही। आत्मा के परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं

हैं। समय-समय के परिणाम हैं—द्रव्य से परिणाम कभी भिन्न नही होते। ऐसा मालूम होता है कि भिन्न है पर भिन्न है नहीं। सुवर्ण द्रव्य है, कड़ा उसका परिणाम है। कड़ा होने से अलग तो नही है, उसी का परिणाम है। यदि हम उस कड़े को कुण्डल में बदल दे तब भी सोना ही रहेगा। इस प्रकार केवल दृष्टि गहरी करनी पड़ेगी—समक्ष में आ जायेगा। इसी भांति आत्मा गुण और पर्याय का पुंज है—गुण और पर्याय पृथक्-पृथक् नही है। उसको समझने के लिए आचार्यों ने रास्ता बना दिया है। ऊपर कहा गया है कि कारण और कार्य मे न तो समय भेद है और ना ही स्थान भेद है वह बात सही उतरती है। जिस समय कड़ा टूटा उसी समय कुण्डल की उत्पत्ति हुई—एक ही समय है और एक ही स्थान है। बात बड़ी अटपटी लगती है, किन्तु विचार करने पर ठीक बैठ जाती है। इसी तरह आत्मा पर घटा लें।

लब्धि क्या है? आत्मा के परिणामों मे चार लब्धियो के बाद जब करणलब्धि होती है तब वह सम्यक्त्व मे कारण पड़ती है। वह कारण और क्या है? वह भी इसी जीव का परिणाम है। जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसके परिणामों में जो उत्तरोत्तर निर्मलता है वही परिणाम कारण पड़ेंगे। इस प्रकार हमें उस पदार्थ को प्राप्त करने मे अभी से लग जाना चाहिए। क्या पता फिर अवसर मिले न मिले।

यह सम्पदा और ये भोग तो अनेक बार मिले हैं किन्तु क्या ये मेरे कुछ काम आये? सिवाय संसार बढ़ाने के। और हम हैं कि इन्हीं के जुटाने में अपना अनमोल जीवन गँवा रहे हैं। जो भी दिन बीत रहा है वह आयु में घट रहा है और हम कहते हैं कि हमारी आयु बढ़ गई। कैसी विडम्बना है कि हम वस्तु-स्थिति को मानने के लिए तैयार नही है। बन में आग लगी है और उसमें अनेक जीव जल रहे है और हम है कि उनके जलने का तमाशा देख रहे है। हम नही सोचते कि यह आग हमारी ओर बढ रही है। हमें अभी भी समय है कि इस भयानक वन से निकल सकते है। हमारे पास साधन भी है। बस, थोड़ा-सा उद्यम करना पड़ेगा। अन्यथा, फिर वही चतुर्गति का चक्कर न जाने कब तक चलता रहेगा। और पुनः मनुष्यगति, उत्तम कुल, जैन धर्म की शरण निरोग शरीर कब मिल सकेगा? मिल सकेगा या नही भी? इसका क्या भरोसा? ये स्त्री-पुत्र-सम्पदा, वैभव और ये समाज तो अनेक बार मिले है। पर, क्या इनसे मेरा कभी हित हुआ है? नही हुआ। यदि हुआ है तो इनसे अहित ही हुआ है।

२/४, असारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

(पृ० १८ का शेषांश)

२. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डी. लिट्. का शोधप्रबन्ध, सन् १६७४, पृ० ३२६।
३. नाट्यशास्त्र, आचार्य भरत, षष्ठ अध्याय, सम्पादक डॉ० रघुवंश, पृ० २०४।
४. जैन हिन्दी पूजा काव्य : परम्परा और आलोचना, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृ० १६०।
५. काव्यदर्पण, प० रामदहिन मिश्र, पृ० २०८।
६. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, रसमंजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० २३४।
७. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, डॉ. सत्यव्रत शास्त्री की टीका सहित, तृतीय परिच्छेद, पृ० २६५।
८. जैन हिन्दी पूजा काव्य : परम्रा और आलोचना, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृ० १६१।
९. रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २४०।
१०. काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० २१०।

महाकवि बनारसीदास की रस-विषयक अवधारणा

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

महाकवि बनारसीदास १७वी सदी के एक आध्यात्मिक संत थे और थे वह काव्याकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्र।[1] वह हिन्दी के सगुणभक्ति के प्रवर्त्तक महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे और थे उनके घनिष्ठ मित्र। सृजनशील व्यक्तित्व के धनी कविश्री ने अपनी—मोह-विवेक युद्ध, बनारसी नाममाला, बनारसी विलास, नाटक समयसार, अर्द्धकथानक-रचनाओं से साहित्य को समृद्ध किया है। वह हिन्दी आत्मकथा साहित्य के आद्य प्रवर्तक है। जैन अध्यात्म के पुरस्कर्त्ता कविश्री बनारसीदास के काव्य मे अध्यात्ममूला भक्ति का उत्कर्ष है। इनकी प्रत्येक रचना मे अध्यात्म रस टपकता है। प्रस्तुत आलेख मे रससिद्ध कवि श्री बनारसीदास की रस विषयक अवधारणा पर विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

रस काव्य की आत्मा है। काव्यपाठ, श्रवण अथवा अभिनय देखने पर विभावादि से होने वाली आनद परक चित्तवृत्ति ही रस है।[2] मानव हृदय मे अनेक भाव स्थाई रूप से विद्यमान रहते है। ये स्थाई भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के सहयोग से रसदशा को प्राप्त होते है।[3] जैन आचार्यों की रस विषयक मान्यता रही है—अनुभव। अनुभव ही रस का आधार है। यह अन्त-र्मुखी प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। आत्मानुभूति होने पर ही रसमयता की स्थिति उत्पन्न हुआ करती है।[4]

भरतमुनि ने साहित्य मे आठ रसों को स्वीकृत कर शांत रस को उपेक्षित कर दिया था किन्तु कालान्तर में शांतरस को नवम रस के पद पर प्रतिष्ठित किया गया और मम्मट आदि अनेक आचार्यों के द्वारा निर्वेद को स्थाई भाव स्वीकार किया गया।[5] आचार्य मम्मट ने निर्वेद के दो रूप माने हैं। तत्वज्ञान से जो निर्वेद होता है वह स्थाई भाव है और इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से जो निर्वेद होता है वह सचारीभाव है।[6] आचार्य विश्वनाथ ने शान्त रस को स्पष्ट करते हुए 'साहित्य दर्पण' में कहा है कि जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं[7]—यथा—

> न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न
> द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा:।
> रस: स शान्त: कथितो मुनीन्द्रै:
> सर्वेषु भावेषु शम प्रधान: ॥

प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में तो शान्त रस की स्थिति मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है किन्तु इसका समाधान यह है कि यहाँ सुख के अभाव से तात्पर्य सांसारिक सुख से है अन्य सुख अर्थात् आत्मिक सुख से नही।

संसार से वैराग्यभाव का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है। निर्वेद अथवा वैराग्य ही शांत रस का स्थाई भाव है, ससार की असारता का बोध तथा परमात्म तत्त्व का ज्ञान इसका आलम्बन विभाव है, सज्जनों का सत्सग, तीर्थाटन, धर्मशास्त्रो का चिन्तन आदि उद्दीपन विभाव है, रोमाच, पुलक, अश्रु विसर्जन, ससार त्याग के विचार आदि अनुभाव हैं तथा धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, स्मृति, जडता आदि इसके सचारी-भाव हैं।

जैन आचार्यों को रसो की परिसख्या में किसी प्रकार का विवाद नही रहा। उन्होंने परम्परागत नवरसो की स्वीकृति दी है।[8] महाकवि बनारसीदास ने अपनी अध्यात्म रचना 'नाटक समयसार' के माध्यम से नवरसो के सन्दर्भ में मौलिक आध्यात्मिक उदात्त दृष्टि दी है। उन्होने शात रस को रस नायक स्वीकार किया है—यथा—

> नवमों सान्त रसनि को नायक।
> (सर्वविशुद्धिद्वार, नाटक समयसार, पृ. ३०७)

नवरसों के लौकिक स्थानों की चर्चा को अत्यन्त संक्षेप एव स्पष्टता के साथ कविश्री ने एक ही छद मे निबद्ध कर दिया है—यथा—

सोभा में सिंगार बसे बीर पुरषारथ में,
कोमल हिए में रस करुना बखानिए।
आनंद में हास्य रुण्ड मुण्ड में विराजै रुद्र,
बीभत्स तहाँ जहाँ गिलानि मत आनिए॥
चिन्ता में भयानक अथाहता में अद्भुत,
माया को अरुचि तामे सान्त रस माननिए।
एई नवरस भवरूप एई भावरूप,
इनको विलेछिन सुदृष्टि जागे जानिए॥

(सर्वविशुद्धि द्वार, नाटक समयसार, पृ. ३०७-८)

कविश्री का रस और उनके स्थाई भावो मे परम्परानुमोदित व्यवस्था मे यत्किंचित परिवर्तन करने का मूलाधार आध्यात्मिक विचारधारा ही रही है। उनकी मान्यता है कि अध्यात्म जगत में भी साहित्यिक रसों का आनंद लिया जा सकता है, केवल रसास्वादन की दिशा बदलनी होगी। कविश्री बनारसीदास ने आत्मा के विभिन्न गुणो की निर्मलता और विकास में ही नवरसो की परिपक्वता का अनुभव किया है—यथा—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना सम रस रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन रुद्र, वरतै तिहि थानक।
तन विलेछ बीभच्छ दुन्द मुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनंत बल चिन्तवन, सांत सहज वैरागधुव।
नवरस विलास परगास तब, जब सुबोध घट प्रगट हुव॥

महाकवि बनारसीदास कुन्दकुन्दाम्नाय के रस सिद्ध कवि थे। वह आत्मानुभव को ही मोक्ष स्वरूप मानकर कहते है कि—

वस्तु विचारत ध्यावतै, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम॥

(समयसार नाटक, उत्थानिका, छदांक १७)

'समयसार नाटक' मे कविश्री का कहना है कि मेरी रचना अनुभव रस का भण्डार है—

समयसार नाटक अकथ, अनुभव-रस-भण्डार।
याको रस जो जानहीं, सो पावै भव-पार॥

(समयसार नाटक, ईडर के भण्डार की प्रति का अन्तिम अश छदांक १)

ससार की असारता और परिवर्तनशीलता को देखकर मन का विरक्त होना तथा आत्मिक आनंद में लीन होना ही परम शान्ति है। अष्ट कर्मों को क्षय कर निर्विकार अवस्था को प्राप्त कर परम आनद की उपलब्धि ही प्रमुख लक्ष्य है।[1] महाकवि बनारसीदास के काव्य का मूल स्वर मन को सासारिकता से विमुख करके आत्मसुख की ओर उन्मुख करना ही रहा है। शान्त रस वस्तुतः निवृत्तिमूलक है और अन्य रस लौकिक होने के कारण प्रवृत्तिमूलक है।[1]

इस प्रकार कविश्री बनारसीदास की रस विषयक अवधारणा महनीय है। उनके विचार से शान्तरस सब रसो का नायक है और शेष सब रस शान्तरस मे ही समाहित हो जाते है। आत्मानुभूति होने पर ही रसमयता की स्थिति उत्पन्न हुआ करती है। इन रसो के अन्तरंग मे जिन भावनाओ की व्यापकता पर बल दिया है वह स्व-पर कल्याण मे सर्वथा सहायक प्रमाणित होती है। आत्मा के ज्ञान गुण से विभूषित करने का विचार शृंगार, कर्म निर्जरा का उद्यम वीर, सभी प्राणियो को अपने समान समझने के लिए करुणा, हृदय मे उत्साह एव सुख की अनुभूति के लिए हास्य, अष्टकर्मों को नष्ट करना रौद्र, शरीर की अशुचिता का चिन्तवन वीभत्स, जन्म-मरण के दुःख का चिन्तवन भयानक, आत्मा की अनन्त शक्ति को प्राप्त कर विस्मय करना अद्भुत तथा दृढ़ वैराग्यधारण कर आत्मानुभव मे लीन होना शान्तरस कहलाता है। ससार की क्षणभगुरता, शरीर की निकृष्टता जीव की अज्ञानता आदि की अनेक हृदयग्राही उक्तियो से कविश्री बनारसीदास की रचनायें अनुप्राणित है।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. बनारसीदास का प्रदेय और मूल्यांकन, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' जैन पथ प्रदर्शक, वर्ष ११, अंक २४, मार्च (द्वितीय) १९८७, पृ० ३२-४०।

(शेष पृ० १६ पर)

परमात्मप्रकाश एवं गीता में आत्मतत्त्व

☐ डॉ० कपूरचन्द जैन, संस्कृत विभागाध्यक्ष

भारतीय चिन्तन मे वैदिक और श्रमण सस्कृतियो का सहभाग रहा है। श्रमण सस्कृति की बौद्ध और जैन ये दो विचारधाराएँ हुई, वैदिक विचारधारा सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमासा-वेदान्त इन छह धाराओ मे प्रवाहित हुई, इन्हें ही षड्दर्शन कहा जाता है। इन्हें आस्तिक दर्शन भी कहते है। इनके अतिरिक्त एक चिन्तन और था जिसका सम्बन्ध मात्र इस जड-जगत से था। स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म जैसे सिद्धान्तो से उसे कुछ लेना-देना न था उसने तो आत्मतत्त्व के परलोकगामी अस्तित्व को भी नकारा, इसे चार्वाक कहते है। जैन, बौद्ध और चार्वाक चूकि वेदो को प्रामाणिक नही मानते, अतः इन्हे नास्तिक कहा गया है।[1] गीता वैदिक दर्शनो मे समाहित है उसमे सभी आस्तिक दर्शनों के तत्त्व विद्यमान है। गीता महाभारत का ही एक अश है।

महाभारत की मूलकथा का वक्ता संजय है। धृतराष्ट्र ने संजय से प्रश्न किया, सजय ! युद्धेच्छु एकत्रित मेरे और पाण्डु के पुत्रो ने क्या किया।[2] तब सजय ने सभी योद्धाओ की तैयारी का वर्णन किया और कहा, महाराज ! अर्जुन ने जब अपने सामने अपने ही बान्धवो को देखा, तो वह युद्ध से विरक्त होने लगा और कहने लगा कि मैं ऐसा राज्य, ऐसी विजय और ऐसा सुख नहीं चाहता, जो स्वजनवध से प्राप्त हुआ हो।[3] तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध मे प्रेरित करने केलिए समझाया, दूसरे शब्दो में गीता की रचना श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके प्रश्न पर उपदेश है।

हिन्दुओं मे गीता का वही स्थान है, जो मुसलमानो मे कुरान और ईसाइयों मे बाइबिल का है। व्यास ने गीता का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता।।"

'परमात्मप्रकाश' की रचना भी एक शिष्य द्वारा पूछे जाने पर उपदेश के रूप मे हुई है। परमात्मप्रकाश के रचयिता योगीन्द्रदेव (योगेन्द्र) ने परमात्मप्रकाश के रूप मे अध्यात्म शास्त्र का एक अनमोल रत्न भारतीय साहित्य को दिया है। यथा नाम तथा विवेचन इस काव्य मे ३४५ दोहा है।[4] जिनमे आत्मतत्त्व का सर्वाङ्ग विवेचन हुआ है। जिस शिष्य के प्रश्न पर यह ग्रंथ रचा गया, उसका नाम प्रभाकर भट्ट था, जिसके पुनः पुनः निवेदन करने पर इस ग्रथ की रचना हुई।[5] इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए योगीन्द्रदेव ने लिखा है कि इसका सदैव अभ्यास करने वालो का मोहकर्म दूर होकर केवलज्ञान पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[6]

जैन और वैदिक दोनो दर्शन आत्मतत्त्व की सत्ता और उसका पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है फिर चौथे-पाँचवे, फिर नरक-स्वर्ग मे आता जाता है, इस प्रकार अनतकाल से इस ससार सागर मे भटक रहा है। लगभग सभी भारतीय और कुछ पाश्चात्य दर्शनो की प्रकृति इस ससार-भ्रमण को मिटाने मे लगी है। यह बात अलग है कि सभी के रास्ते अलग-अलग हैं, पर गन्तव्य तो सबका एक ही है।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनो ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारा है। भले ही उसे पुरुष, जीव, प्राज्ञ, तैजस आदि संज्ञायें दी हो। बौद्ध दर्शन के अनुसार विज्ञान ही आत्मा है, बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते है। साख्य मे आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है, उसकी सख्या अनंत है।[7] साख्य जैन दर्शन की तरह अनेक जीव (पुरुषो) की सत्ता स्वीकार करता है। वेदान्त के अनुसार शरीर इन्द्रिय आदि वस्तुओ का प्रकाशक नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव आन्तरिक (प्रत्यक्)

चैतन्य ही आत्मा है।[८]

'वैशेषिक दर्शन' दर्शन के अनुसार आत्मा पृथ्वी आदि नव द्रव्यों में से एक है।[९] उनके अनुसार जिस द्रव्य मे समवाय (नित्य) सम्बन्ध से ज्ञान रहता है वह आत्मा है। वह जीवात्मा परमात्मा के भेद से दो प्रकार का है।[१०]

आत्मा के अस्तित्व की तरह आत्मा के महत्व का प्रतिपादन भी सभी दर्शनो ने किया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मुक्ति के मार्ग कहे गये है।[११] यह दर्शन और ज्ञान आत्मादि सात तत्त्वो का होना चाहिए।[१२] न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण-प्रमेय (आत्मा) आदि के सम्यग्ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[१३] सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्यग्ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है।[१४] वेदान्त के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानकर आत्मा परब्रह्म में लीन हो जाता है।[१५] उपनिषदो मे आत्मा के महत्त्व का पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है। परमात्मप्रकाश की शैली उपनिषदो से मिलती प्रतीत होती है। स्वय योगीन्द्र देव ने कहा है कि विद्वान् हमारी इस रचना मे पुनरुक्ति दोष न देखें क्योंकि प्रभाकर भट्ट को सबोधनो के लिए परमात्म-का कथन बार-बार किया गया है।[१६]

उपनिषदो मे कहा गया है, जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है—'य. आत्मान जानाति सः सर्व विजानाति', छान्दोग्य उपनिषद् मे एक प्रसङ्ग आता है जिससे आत्मा का महत्त्व भली भांति स्पष्ट हो जाता है प्रजापति के मुख से एक बार देवो और दैत्यो ने सुना कि जो आत्मा पापरहित, अजर, अमर, शोक रहित, भूख-प्यास से रहित, सत्यकामनाओ तथा सत्यसकल्पो वाला है, वह अन्वेषण और जिज्ञासा के योग्य है। जो साधक उस आत्मा का अन्वेषण या साक्षात्कार करके उसे विशेष रूप से जान लेता है वह सभी लोको और सभी कामनाओ को प्राप्त कर लेता है।[१७] इसमे आत्मतत्त्व का महत्त्व और स्वरूप बताया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सवाद मे कहा गया है—अरे मैत्रेयी! पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रेम नही होता, अपितु अपने सुख के लिए होता है, पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता; लोगो के सुख के लिए लोग, देवो के सुख के लिए देव प्रिय नही होते किन्तु ये सब आत्मसुख के कारण ही प्रिय होते है। अतः आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन एव निदिध्यासन करना चाहिए।[१८]

परमात्मप्रकाश मे कहा गया है जो आत्मा को जान लेता है, वह परमात्मा हो जाता है -

—'... ... ...

'जामइ जाणइ अप्पें अप्पा तामई सो जि देउ परमप्पा।'

दोहा ३०५ और भी—

'अप्पा झायहि विम्मलउ, किं बहुए अण्णेण।

जो भायंतह परमपड, लब्भइ एक्कखणेण॥ दोहा ९८

ऐसा ही भाव गीता मे भी कहा गया है, कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ वह है जो आत्मा से आत्मा मे ही संतुष्ट रहता है—

—' ... ...

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तवोच्यते।"

—गीता २/५५

इसी कारण गीता के छठे अध्याय मे तो बड़े ही स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥'

—गीता ६/५

शुद्धात्मा का जो स्वरूप योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश मे वर्णित किया है वह जैनदर्शन का मानो निचोड़ है—

'जासु ण वण्णु ण गधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु-मरणु णवि, णाउ णिरंजणु तासु॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु जाणि॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कुवि दोसु, सो जि णिरंजणु भाउ॥'

— दोहे १९, २०, २१

अर्थात्—जिसमे वर्ण, गध, रस, शब्द, स्पर्श, जन्म, मरण, क्रोध, मोह, मद, माया मान, स्थान, ध्यान, पुण्य, पाप, हर्ष-विषाद, दोष, धारणा, ध्येय, यंत्र, मत्र, मडल, मुद्रा नही है वह शुद्धात्मा है। जो निर्मल ध्यान से गम्य है वह आदि अन्त रहित आत्मा है।

गीता में भी यही कहा गया है कि जिसमें जन्म-मरण आदि दोष नही है वही आत्मा है। आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता, जो मरता नही उसका जन्म कैसा और जो जन्मता नही उसका मरण भी कैसा। आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है। (नायं हन्ति न हन्यते २/१९) गीता कहती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्य. शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥'
—गीता २/२०

परमात्मप्रकाश कहता है—
'णवि उप्पज्जइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेई।'
... ...
– दोहा ६९

जैसे कोई पुराने वस्त्र छोड़ नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया धारण करता है।[१९] शस्त्र उसे काट नही सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नही कर सकता और हवा सुखा नही सकती।[२०] गीता और परमात्मप्रकाश का शैली तथा भाव गत साम्य देने का लोभ सवरण नही दे पा रहा है। परमात्मप्रकाश के ऊपर के १९, २०, २१ दोहो की शैली तथा भाव गीता के निम्न श्लोकों से मिलाइये—

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु रचयोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥'
--गीता २/२४-२५

जैन दर्शन में आत्माएँ अनंत मानी गई है, पर गीता मे एक ब्रह्म की उपासना का वर्णन है। ससार मे जितनी भी आत्माएँ है वे उसी ब्रह्म का एकांश है। सभी आत्माएँ उसी ब्रह्म मे मिल जाती है। पर जैन दर्शन के अनुसार तपः साधना और ज्ञान के द्वारा प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्म मे स्वतन्त्र है। अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता वह स्वयं है कोई भगवान् या ईश्वर नही है। गीता के अनुसार भगवान् कृष्ण कृष्ण हैं और वे सभी पापो से छुडा सकते है—

'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
-- गीता८/६६

आत्मा के आकार के सन्दर्भ भी विभिन्न मत प्रचलित है न्यायवैशेषिक साख्य मीमांसा आदि दर्शन आत्मा या जीव को अनेक या सर्वव्यापक होने का उल्लेख मिलता है। आत्मा को अणु से अणु और महान् से महान् कहा गया है।[२१] वेदो मे पुरुष या आत्मा को अगुष्ठ मात्र कहा गया है।[२२] किन्तु आत्मा के आकार का सर्वाधिक सुन्दर और वैज्ञानिक समाधान जैनदर्शन मे मिलता है। कहा गया है कि आत्मा स्वदेहप्रमाण है। जैसी देह हो आत्मा का आकार भी वैसा ही हो जाता है। हाथी के शरीर में आत्मा हाथी के आकार की और चीटी के शरीर में चीटी के आकार की हो जाती है। आत्मा के प्रदेशो का सकोच और विस्तार दीपक के प्रकाश की भाँति होता है आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

"जह पउमरायरयणं रिक्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमितं पभासयदि ॥"[२३]

जैसे दूध मे डाली गई पद्मरागमणि दूध को अपने तेज और रंग से प्रकाशित कर देती है वैसे ही देह मे रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। योगीन्द्र देव ने परमतो का खण्डन करते हुए आत्मा को स्वदेहप्रमाण कहा है—

(अप्पा देहपमाणु —दोहा ५१)।

इसी भाव को गीता मे निम्न शब्दो मे व्यक्त किया गया है—

'यथा प्रकाशयत्येक. कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥"[२४]

अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री=क्षेत्र का स्वामी, आत्मा उस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। इस प्रकार दोनों ग्रंथों मे अपने-अपने दर्शनो के अनुसार आत्म-तत्त्व का सुन्दर एव हृदयग्राही वर्णन है।

सन्दर्भ-सूची

१. 'वेदनिन्दको नास्तिक:'। —मनुस्मृतिः

२. 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥
—गीता १।१

—गीता प्रेस गोरखपुर, अठारहवां संस्करण

३. 'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथ हत्वा सुखिनः स्याम माधवा ॥'
—गीता १।३७

४. परमात्मप्रकाशः : योगीन्द्रदेव, परमश्रुत प्रभावक-मंडल प्रकाशन वि० संवत् १९७२।

५. 'भावि पणविधि पचगुरु सिरिजोइदु जिणाउ।
भट्टपयायरि विण्णयउ विमल करेविणु भाउ ॥
पुण पुण पणविवि पंचगुरु भाविचित्ति धरेवि।
भट्टपहायर णिसुणि तुहु, अप्पा तिविहु कहेवि ॥'
—परमात्मप्रकाश दोहा ८ तथा ११

६. 'जे परमप्पयासयह अणुदिणु णाउ लयंति।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तह तिहुयणणाह हवंति ॥'
—वही दोहा ३३७

७. जननमरण करणाना प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥
—सांख्यकारिका १८

८. 'अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः।
—वेदान्तसार (सदानन्द प्रणीत) साहित्य भडार मेरठ १९७७, पृ० ११९

९. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मा-मनांसि नवैव।'

१०. 'ज्ञानाधिकरणमात्मा। सद्विविधः
जीवात्मा परमात्मा चेति।'
—तर्कसग्रह (चौ. सस्करण) पृ. ५ तथा १८

११. 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।'
—तत्त्वार्थसूत्र १।१

१२. 'जीवाजीवाश्रवबंध संवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्।'
—वही १।४

१३. 'प्रमाणप्रमेय संशय प्रयोजन··· तत्त्वज्ञानान्नि श्रेय-साधिगमः' तथा 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः··· ··· प्रमेयम्' इति सूत्रम्।' —तर्कभाषा केशव मिश्र साहित्यभडार मेरठ प्रकाशन १९७२ पृ. ४ तथा १७५

१४. 'ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययादिष्यते बन्धः।'
—साख्यकारिका ४४ कारिका

१५. 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।'

१६. 'इत्थु ण लिव्वउ पण्डियहिं गुणदोसुवि पुणुस्तु।
भट्टपभायरकारणइ मइ पुणु पुणुवि पउत्त ॥'
—परमात्मप्रकाश, दोहा ३४२

१७. य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजि-घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजा-पतिरूपा च।'
—छन्दोग्य उपनिषद् अष्टम अध्याय सप्तम खड

१८. बृहदारण्यकोपनिषद्—याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवाद।

१९. 'वासासि जीर्णानियथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यान्यानि सयाति नवानि देही ॥' —गीता २।२२

२० 'नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥'
—गीता २।४३

२१. 'अणोरणीयान् महतः महीयान्।'
—कठोपनिषद् प्रथम दिल्ली

२२. अगुष्ठमात्रवै पुरुषः मध्ये आत्मन्य तिष्ठति।'
ऋग्वेद पुरुषसूक्त

२३. पञ्चास्तिकाय गाथा ३३

२४. गीता १३-३३

दिगम्बर मुनियों की जीवन चर्या

□ कुमारी विभा जैन, एम. ए. शोध छात्रा

दिगम्बरत्व प्रकृति का रूप है। वह प्रकृति का दिया हुआ मनुष्य का वेष है। आदम और हव्वा इसी रूप मे रहे थे। दिशाएँ ही उनके अम्बर थे—वस्त्रविन्यास उनका वही प्रकृतिदत्त नग्नत्व था। वह प्रकृति की अचल मे सुख की नीद सोते और आनन्दलोरियां करते थे। इसलिए कहते हैं कि मनुष्य की आदर्श स्थिति दिगम्बर है। नग्न रहना ही इसके लिए श्रेष्ठ है। इसमें उसके लिए अशिष्टता असभ्यता की कोई बात नहीं है, क्योंकि दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व स्वयं अशिष्ट अथवा असभ्य वस्तु नही है। वह तो मनुष्य का प्राकृत रूप है। ईसाई मतानुसार आदम और हव्वा नंगे रहते हुए कभी न लजाये और न वे विकास के चगुल मे फँसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे। किन्तु जब उन्होंने बुराई-भलाई, पाप-पुण्य का वर्जित फल खा लिया, वे अपनी प्रकृति दशा खो बैठे—सरलता उनकी जाती रही। वे ससार के साधारण प्राणी हो गये। बच्चे को लीजिए, उसे कभी भी अपने नग्नत्व के कारण लज्जा का अनुभव नही होता और न उसके माता-पिता अथवा अन्य लोग ही उसकी नग्नता पर नाक-भौ सिकोड़ते है।

मनुष्य मात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर ही है। आदर्श मनुष्य सर्वथा निर्दोष है—विकारशून्य ही होता है।

जन्म मरण पर्यन्त वस्त्रों मे जीवन व्यतीत करने वाला मानव दिगम्बर साधुओ की नग्नता को देखकर समाज में असभ्यता का प्रतीक मानता है। किन्तु वस्तुतः कृत्रिम जीवन में आनन्द से अनभिज्ञ होकर ही ऐसा करते हैं। उनका मन वासनाओं से शून्य होता है। लौकिक जीव से घृणा करते हैं, वे दिगम्बर मुनिराज अन्तर वाह्य में एक समान दिगम्बर है अर्थात् उनका अन्तःकरण वासनाओं से रहित है।

दिगम्बरत्व वस्तुतः प्राकृतिक और निर्विकारी वेष है और आत्मसाधना में निर्बंध मार्ग है। दिगम्बर मुनि की चर्या से ससार की मानव जाति का बहुत थोड़ा हिस्सा परिचित है।

दिगम्बर मुनि २८ मूलगुणों का निर्दोष परिपालन करते हुए आत्म साधना मे रत रहते है। साथ ही प्राणी मात्र के प्रति मैत्री प्रमोद कारुण्य और मध्यस्थ भावना की चरमोत्कर्षता को परिप्राप्त होते है। २८ मूलगुणों के अतिरिक्त दस लक्षण धर्म, द्वादशतप, द्वादशानुप्रेक्षाचिंतन, द्वविंशति, परीषह, जप आदि को भी वे जीवन का अभिन्न अंग मानते हुए शिवमुक्ति भाजन बनते है। मनोविजयी मे मुनिराज इस प्रकार पाँच इन्द्रिय रूप में ही परिगणित है, क्योंकि वे अनिन्द्रिय हैं और सभी इन्द्रियो का राजा समस्त जगत में मन के अधीन होकर पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों में मग्न हैं। उससे विपरीत जिनके मन में भौतिकता का साम्राज्य नही है, ऐमे मनोविजयी मुनिराज पचेन्द्रिय का निरोध करते हुए आत्म निमग्नता प्राप्त करते है।

शेष गुण—केशलुंचन, नग्नता, अस्नान, पिच्छि-कमण्डलु तथा खड़े होकर आहार लेना आदि मुनि के विशेष गुण हैं। इन सभी के विषय मे अनेक प्रश्न उठते हैं कि मुनि उनको क्यो करते हैं? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है:—

केशलोंच :—

२२ परीषह का सहन करना अपेक्षित होता है। केशलोंच भी इसी के साथ जोड़ दिया गया है। इसके दो कारण हैं:—

(क) एक कारण तो शारीरिक शृंगार विहीनता और पीड़ा पर विजय पाना। दूसरा कारण है वैज्ञानिक सूर्य ऊर्जा का केन्द्र है और उसका आयात शरीर के ऊर्द्ध अंगों द्वारा हुआ करता है। शरीर का सबसे ऊँचा भाग है

सिर, अतः ऊर्जा आगम में किसी प्रकार की बाधा न हो अतः केशराशि का परित्याग आवश्यक होता है।

"मूलाचार आराधना कोष" मे केशलोच के विषय मे मूल गुणाधिकार एक मे इस प्रकार कहा है—मुनियो के पाई मात्र भी धन सग्रह नही है जिससे कि हजामत करावे और हिंसा का कारण समझ उस्तरा नामक शस्त्र भी नही रखते और दीन वृत्ति न होने से किसी से दीनता कर भी क्षौर नही करा सकते इसलिए समूर्छनादिक जुंआ, लीख आदि जीवो की हिंसा के त्यागरूप सयम के लिए प्रतिक्रमण कर तथा उपवास कर आप ही केशलोच करते है। यही लोचनामा गुण है।

नग्नता :—

चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करना जिन साधु के लिए आवश्यक है। नग्नता इसीलिए आवश्यक है। अचेलतन चेल वस्त्र रहित होकर निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर अवस्था को प्राप्त करना, वासनाओ के अभाव की सबसे बड़ी कसौटी है। वासनाओ मे घिरा व्यक्ति कभी भी नग्न नही रह सकता। दिगम्बर मुनि भीतर से भी वासना शून्य होते है इसलिए बाह्य मे बिना सकोच के नग्न रह पाते है।

अस्नान : —

अस्नान वे रत्नत्रय से पवित्र रहने वाले मुनिराज कभी भी स्नान नही करते। शरीर के प्रति ममत्व भाव का न होना मुनिचर्या का विशेष अग है। अतः उसके रक्षण के लिए जागरुक रहना दोष और अतिचार मे आता है। स्नान आदि न करने से उन की वैचारिक दशा अन्तर्मुखी हो जाती है। अपने बाह्य वपु प्रदेश की चिन्ता ही छूट जाती है।

स्नान करने से उन्हे अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव बढता है। उनके अंतर्मन मे शारीरिक सौन्दर्य की भावना जागृत होती है तथा उनकी भावना के साथ-साथ श्रावक की भावना में आकर्षण शक्ति जागने लगती है। मुनि को स्नान आदि से कोई मतलब नही होता उनका जीवन तो तपस्वी का होता है। जिससे उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण तथा तपस्वी लगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्नानादि न करने से अशुचिता होता है? इसका समाधान यह है कि मुनिराज व्रतों कर सदा पवित्र है, यदि व्रत रहित होकर जन स्नान से शुद्धता हो तो सामान्य जन, दुराचारी, अन्यायी, असंयमी सभी जीव स्नान करने से शुद्ध माने जायेंगे तो ऐसा नहीं है। प्रत्युत जलादिक बहुत दोषो से युक्त है, अनेक तरह के सूक्ष्म जीवों से भरे है, पाप के मूल है इसलिए संयमी जनो को स्नान व्रती ही पालन योग्य है।

खड़े होकर आहार लेना :—

मुनि भोजन एक ही स्थान पर खड़े होकर अपने पात्र मे लेते है। जैसा भी सद्ग्रहस्थ रूख-रूखा, नीरस अथवा सरस किन्तु प्रासुक एव सेव्य आहार देता है उसे गोचरी वृत्ति या भ्रामरी वृत्ति से गरीब-अमीर के भेदभाव से रहित होकर शरीर की स्थिति के लिए यथावश्यक ग्रहण करते है। सूर्योदय से ७२ मि० पश्चात् से लेकर सूर्यास्त के ७२ मि० पूर्व तक दिन मे एक ही बार आहार भोजन ग्रहण करते है। दूसरी बार जलादि का भी ग्रहण नही करते।

अब प्रश्न उठता है कि मुनि खड़े होकर ही आहार क्यो ग्रहण करते है? इसका समाधान यह है कि बैठकर भोजन सुरुचिपूर्वक लिया जाता है, जबकि उनकी साधना मे आहार की रुचिता का परित्याग रहता है। असुविधा तथा अरुचि के साथ लिया गया भोजन मुनि के बाईस परिषह के अन्तर्गत आता है।

पिच्छि कमण्डलु—

मुनि पिच्छि कमण्डलु लेकर क्यो चलते है? दिगम्बर मुनि के पास सयम तथा शौच के उपकरण के रूप मे पिच्छि कमण्डलु होते है। मानो पिच्छि-कमण्डलु स्वावलम्बन के दो हाथ है प्रतिलेखन शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वान्छनीय है। मयूरपिच्छि का लव भाग इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नही होती स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नही हो सकते। इन कारणों से मयूरपिच्छि धारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है। पिच्छि रखने से वह नग्न मुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। "मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते"—नीतिसार की यह उक्ति

(शेष पृ० २६ पर)

चिन्तन के लिए :—

षट्खण्डागम और गोम्मटसार

□ श्री एम० एल० जैन ३०, तुगलक क्रीसेंट, नई दिल्ली

षट्खण्डागम की टीका धवला में अपने से पूर्ववर्ती कई आचार्यों की गाथाएँ उद्धृत हैं परन्तु सभी विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ तक गोम्मटसार की गाथाओं का सवाल है, वे नेमिचन्द्र ने धवला से संग्रहीत की हैं। इस निष्कर्ष का मूल कारण यह है कि इस बात को अब सन्देह से परे समझा जाता है कि गोम्मटराय जिनका जयगान नेमिचन्द्र ने किया है वे कोई और नही गंगनरेश रायमल्ल के सेनानायक चामुन्डराय हैं जो दसवीं शताब्दि के द्वितीय चरण में हुए हैं। परन्तु क्या यह निष्कर्ष सही है ?

पं० हीरालाल शास्त्री ने पञ्चसंग्रह की अपनी प्रस्तावना पृ० ३६ में यह अनुमानलगाया है कि यह ग्रन्थ पांचवीं-छठी शताब्दि के बीच कभी संग्रहीत हुआ है।[१] इस ग्रथ का पहला अधिकार जीव समास है उसकी गाथा ५७ इस प्रकार है—

गइ इदिय च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
सजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा १४२ इस प्रकार है—

गइ इंदिए सु काए जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

दोनो गाथा लगभग एक है किन्तु पञ्चसंग्रह के 'इंदिय च' 'जोए वेए' के स्थान पर गोम्मटसार जीवकाण्ड में 'इंदिए सु' व 'जोगे वेदे' पद हैं।

षट्खण्डागम का सूत्र १।१।४ इस प्रकार है—

"गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाय णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविए सम्मत्त सण्णि आहारए चे दि।"

तुलना करने से दृष्टव्य है कि गोम्मटसार गाथा के शब्द 'सु' व 'य' उक्त सूत्र मे नहीं है और 'चेदि' शब्द सूत्र मे अधिक है तथा 'संजम दसण' शब्दो में सप्तमी विभक्ति सहित 'सजमे दंसणे' शब्द आए है। इन विशेषताओं को छोड़ दें तो गाथा व सूत्र का अन्तर नगण्य है।[२] यही कारण है कि धवला मे जीवकाण्ड की गाथा को उद्धृत नहीं किया गया। उद्धरण इस बात का प्रमाण होता है कि उद्धृत अंश पूर्ववर्ती होता है भविष्यवर्ती तो नही। ऐसी सूरत में निष्कर्ष यह होगा कि गोम्मटसार की संरचना धवला टीका के पहले याने सन् ८१६ के पहले हो चुकी थी। इस सिलसिले मे यह भी नही भुलाया जाना चाहिए कि नेमिचन्द्र ने अपने ग्रथो मे चामुण्डराय का व चामुण्डराय ने अपने ग्रंथो मे नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा है। प्रचलित किंवदन्तियों व अनुमानो के आधार पर यह निश्चय कर लिया गया है कि नेमिचन्द्र के गोम्मटराय चामुण्डराय ही हैं।[१]

जीवकाण्ड की गाथा ५६१ इस प्रकार है—

छप्पच णव विहाणं अत्थाण जिणवरो वइट्ठाण।
आणाए अहिगमेण व सद्दहण होई सम्मत्त ॥

इस गाथा का यही स्वरूप पचसंग्रह के जीवसमास अधिकार की गाथा सख्या १५६ मे तथा षट्खण्डागम के सूत्र १।१।५ की धवला टीका मे गाथा ६६ का है। अब यह गाथा वीरसेन ने गोम्मटसार से उद्धृत की, यह उसी सूरत मे अस्वीकार किया जा सकता है जब कि हम गोम्मटराय व चामुण्डराय को एक मानने के निर्णय पर अटल रहे।

जीवकाण्ड की गाथा ५१२ यों है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो।

यही रूप इस गाथा का पचसंग्रह के जीव समास अधिकार की गाथा १४७ का है। किन्तु धवला की गाथा संख्या २०३ इस प्रकार है—

रूसदि णिंदंदि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयदि परिभवदि पर पससदि अप्पय बहुलो ॥

तुलना करने पर यह अन्तर दृष्टिगोचर होता है कि क्रिया के रूप मे जीवकाण्ड मे 'त' के स्थान पर 'द' है। किन्तु पञ्चसग्रह मे जो धवला से पहले का है 'त' का लोप है मगर धवला के शब्द विमर्श से देखा जाता है कि सूत्रों मे, टीका में व उद्धरणो मे कहीं 'त' का 'द', कहीं 'त' का लोप व कहीं अलोप है। लगता है धवलाकार ने इस विषय मे किसी एक नियम का अनुसरण नही किया है। इससे यह शका होती है कि गाथा मे क्रिया का रूप धवलाकार ने ही बदला हो। सम्भावना अधिक यही है कि धवलाकार के समक्ष गोम्मटसार मौजूद था।*

सन्दर्भ-नोट

१. यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से १९६० मे प्रकाशित हुआ है। प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने अपने 'जैन साहित्य के इतिहास' मे इसका सग्रहकाल विक्रम की आठवी शताब्दि से पूर्व का माना है।

२ सूत्र की भाषा पर स्वय वीरसेन को शका समाधान करना पड़ा। गति आदि मार्गणाओ को जीवो का आधार बताने के लिए सप्तमी विभक्ति का निर्देश होना चाहिए था परन्तु गति, इन्द्रिय, काय, कषाय, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और सज्ञी पदो म विभक्ति नही पाई जाती है। १४ पदो मे से केवल ६ पदो मे ही विभक्ति का प्रयोग क्यो किया जबकि सूत्र की भाषा मे व्याकरण का ध्यान रखना आवश्यक है इस कठिनाई का जवाब वीरसेन ने 'आइ-मज्झत-वण्ण-सर लोवो' यह अज्ञात प्राकृत व्याकरण का सूत्र उद्धृत करके कह दिया कि आदि मध्य और अन्त के वर्ण और स्वर का लोप हो गया है अथवा विभक्ति वाले पद के पूर्ववर्ती विभक्ति-रहित पदो को मिला कर एक पद समझना चाहिए। यह समाधान ठीक नही, क्योकि इसके अनुसार तो सब पद विभक्ति रहित होकर अन्तिम पद के साथ विभक्ति लगनी चाहिए थी या फिर प्रत्येक पद के साथ विभक्ति लगनी चाहिए थी। तभी सूत्र की एकरूपता होती और शका समाधान की आवश्यकता ही नही रहती। इसलिए लगता है कि सूत्र की रचना गाथा के रूप का ही अन्वय है तथा गाथा के रूप को कायम रखना ही इस विसगति का कारण है। उस दशा मे स्वय षट्खण्डागम ही पचसग्रह, गोम्मटसार के बाद का ठहरता है।

३. जैन शिलालेख सग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ भाग ५ पृ० ५८ मे पेट्टतुम्बलम् (कुर्नूल, आंध्र प्रदेश) मे जिनमूर्ति के पाद पीठ पर अंकित लेख कन्नड भाषा मे १२वी सदी का (लेख न० १३०) दिया हुआ है जिसमे किसी चिकब्बे नाम की महिला द्वारा गोम्मट पार्श्व जिन की स्थापना का वर्णन है। तो क्या 'गोम्मट' शब्द केवल बाहुबलि की मूर्ति के लिए नही बल्कि शिल्प विशेष या स्थानविशेष का सूचक है न कि सेनापति चामुण्डराय के अपर नाम का?

४. (a) यही कारण हो कि नेमिचन्द्र ने वीरसेन का नाम स्मरण नही किया।

(b) पुष्पदत और भूतबलि का समय ६६-१५६ ई० माना गया है। यदि कुदकुंद २००० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पूर्व पहली सदी के है तो कहना होगा कि षट्खण्डागम की रचना समयसार के बाद की है व समयसार ही प्राचीनतम आगम ग्रंथ है।

(पृ० २४ का शेषांश)

सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासन की हो, धार्मिक वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है। वैष्णवो शायनमतानुयायियो, शैवों, राधा स्वामी सम्प्रदायिको आदि मे तिलक लगाने की पृथक-पृथक प्रणाली है। राजभृत्यो के कन्धो पर अथवा सामने वक्षः स्थल पर वस्त्र निर्मित या धातुघटित मुद्रा होती है जिससे उनकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है। और राजभृत्यता की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। इसी प्रकार श्रमण परम्परा के आदिकाल से अधिकृत चिह्न के रूप मे पिच्छि कमण्डलु रखने का विधान चला आया है।

विशुद्धि के लिए शौचोपकरण में कमण्डलु की तथा सयमोपकरण रूप मे पिच्छि की आवश्यकता होती है।

२८ मूलगुणो के अतिरिक्त भी वे मुनिराज अन्य अनेक विशेषताओ को लिए हुए होते है। अहिंसा और अपरिग्रह की चरम सीमा को प्राप्त ये दिगम्बर मुनिराज समस्त विश्व के आराध्य है। अहिंसा का इतना सूक्ष्म परिपालन इनके जीवन में होता है। ये हरी घास पर भी पैर नही रखते।

अतः मानव समाज की सार्थकता यह है कि उनके परम पावन जीवन के आदर्श को प्राप्त करने हेतु उन्ही के पथ पर चलने का साहस करते हुए आत्म साधना में लग सकें।

गतांक से आगे—

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

□ डा० दरबारीलाल कोठिया

स्मरण रहे कि जैन व्रती—श्रावक या साधु की दृष्टि मे शरीर का उतना महत्त्व नही है जितना आत्मा का है, क्योकि उसने भौतिक दृष्टि को गौण और आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीर की उक्त उपसर्गादि सकटावस्थाओ में, जो साधारण व्यक्ति को विचलित कर देने वाली होती है, आत्मधर्म से च्युत न होता हुआ उसकी रक्षा के लिए साम्यभावपूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देता है। वास्तव मे इस प्रकार का विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षों को चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी से सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है, जिसे उच्च मनःस्थिति के व्यक्ति ही धारण कर पाते है। सच बात यह है कि शरीर और आत्मा के मध्य का अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेने पर सल्लेखना-धारण कठिन नही रहता। उस अन्तर का ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि 'शरीर का नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्म का नाश नही करना चाहिए, क्योकि शरीर का नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्म-धर्म का नाश हो जाने पर उसका पुन. मिलना दुर्लभ है।[1]' अतः जो शरीर-मोही नही होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखना मे यही तत्त्व निहित है। इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त मे प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है।[2]—

'हे जिनेन्द्र ! आपके जगत् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणो की शरण मे आया हू। उसके प्रभाव से मेरे सब दुःखो का अभाव हो, दुःखों के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण की प्राप्ति हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।'

जैन संस्कृति मे सल्लेखना का यही आध्यात्मिक उद्देश्य एव प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पद की उसमे कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधु ने जो अब तक व्रत-तपादि पालन का घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे है, आत्म-शक्ति बढाई है और असाधारण आत्म ज्ञान को जागृत किया है उस पर सुन्दर कलश रखने के लिए वह अन्तिम समय मे भी प्रमाद नही करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखना मे प्रवृत्त होता है।

सल्लेखनावस्था मे उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्ध मे भी जैन लेखको ने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्त-भद्र ने सल्लेखना की निम्न प्रकार विधि बतलाई है।[1]

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओ मे राग, अनिष्ट वस्तुओ मे द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनो मे ममत्व और धनादि मे स्वामित्व का त्याग करके मन को शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियो मे जीवन मे हुए अपराधो को क्षमा कराये और स्वय भी उन्हे प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वय किये, दूसरो से कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापो की निश्छल भाव मे आलो-चना (उन पर खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतो का अपने मे आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्मा को निर्बल बनाने वाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म-विकारो का भी परित्याग करे तथा आत्मबल एव उत्साह को प्रकट करके अमृतोपम शास्त्रवचनो द्वारा मन को प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषाय को शान्त अथवा क्षीण करते हुए

शरीर को भी कृश करने के लिए सल्लेखना मे प्रथमतः अन्नादि आहार का, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे।

अन्त में उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण विवेक के साथ सावधानी में शरीर को छोड़े।

इस अन्तरंग और बाह्य विधि से सल्लेखनाधारी आनद-ज्ञानस्वभाव आत्मा का साधन करता है और वर्तमान पर्याय के विनाश से चिन्तित नही होता, किन्तु भावी पर्याय को अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एव उच्च बनाने का पुरुषार्थ करता हे। नश्वर से अनश्वर का लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पॉच दोषो से भी अपने को बचाता है, जिनसे उनके सल्लेखना-व्रत मे दूषण लगने की सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये है :—

सल्लेखना ले लने के बाद जीवित रहने की आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकने के कारण शीघ्र मरने की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियो का स्मरण करना और अगली पर्याय मे सुखो की चाह करना ये पाँच सल्लेखना-व्रत के दोष है, जिन्हे अतिचार कहा गया है।

सल्लेखना का फल :

सल्लखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और लाभ लेने के कारण नियम से नि.श्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखा है—

'उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण समस्त दुःखो से रहित होकर या तो वह नि.श्रेयस को प्राप्त करता है और या अभ्युदय को पाता है, जहां उसे अपरिमित सुखों की प्राप्ति होती है।'

विद्वद्वर पण्डित आशाधर जी कहते हैं कि 'जिस महा-पुरुष ने ससार परम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया हे उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव मे जाने के लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह इसी तरह सुखी रहे, जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास मे पर्याप्त पाथेय होने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि सहित पुण्य-मरण कभी नही किया, जो सौभाग्य से या पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्य-मरण की बडी प्रशसा की है, क्योकि समाधि-पूर्वक मरण करने वाला महान् आत्मा निश्चय से संसार-रूपी पिंजरे को तोड़ देता है—उसे फिर ससार के बन्धन मे नही रहना पड़ता है।'

सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य :

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमे बडे आदर प्रेम और श्रद्धा के साथ सलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधना मे गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य कार्य मे, जिसे एक 'महान-यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथ से विचलित न होने देने के लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखना मे सम्पूर्ण शक्ति एव आदर के साथ उसे सहायता पहुचाते है और समाधिमरण मे उसे सुस्थिर रखते है। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और ससार की असारता एव क्षणभगुरता दिखलाते है, जिससे वह उनमे मोहित न हो, जिन्हे वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़ने का सकल्प कर चुका है, उनकी पुन. चाह न करे। आचार्य शिवार्य ने भगवती-आराधना (गा० ६५०-६७६) मे समाधिमरण-कराने वाले इन निर्यापक-मुनियो का बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होने लिखा है :—

'वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढ़श्रद्धानी, पापभीरु, परीषहजेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्यविचारक, न्याय-मार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्व-विवेकी, विश्वासी और पर-उपकारी होते है। उनकी सख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।'

'४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करे। ४ मुनि क्षपक को उठाने-बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करे। ४ मुनि धर्मश्रवण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें। ४ मुनि देख-भाल रखे। ४ मुनि शरीर के मलमूत्रादि क्षेपण मे तत्पर रहे। ४ मुनि वसतिका के द्वार

पर रहें, जिससे लोग क्षपक के परिणामो में क्षोभ न कर सके। ४ मुनि क्षपक की आराधना को सुनकर आये लोगो को सभा मे धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करे। ४ मुनि रात्रि रात्रि में जागें। ४ मुनि देश की ऊँच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें। ४ मुनि बाहर से आये-गयो से बातचीत करें। और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगों से वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें।' इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि मे पूर्ण प्रयत्न से सहायता करते है। भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे काल की विषमता होने से जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुण के धारक निर्यापक मिल जाये उतने गुणो वाले निर्यापको से भी समाधि कराये, अति श्रेष्ठ है। पर एक निर्यापक नही होने चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घण्टे सेवा करने पर थक जायगा और क्षपक की समाधि अच्छी तरह नही करा सकेगा।[७]

इस कथन से दो बाते प्रकाश मे आती है। एक तो यह कि समाधिमरण कराने के लिए दो से कम निर्यापक नही होना चाहिए। सम्भव है कि क्षपक की समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशा मे यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नही मिल सकता। अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि प्राचीन काल मे मुनियो कि इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनि की समाधि मे ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपक की समाधि को वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ध्यान रहे कि यह साधुओं की समाधि का मुख्यता वर्णन है। श्रावकों की समाधि का वर्णन यहा गौण है।

ये निर्यापक क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखना मे सुस्थिर रखते है, उसका पण्डित आशाधर जी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।[८] वह कुछ यहाँ दिया जाता है—

'हे क्षपक! लोक मे ऐसा कोई पुद्गल नही, जिसका तुमने एक से अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी यह तुम्हारा कोई हित नही कर सका। पर वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है? आत्मा का हित तो उसी के ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते है। अतः बाह्य वस्तुओं से मोह को त्यागो, विवेक तथा संयम का आश्रय लो। और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हू और पुद्गल अन्य है। 'मै चेतना हू, ज्ञाता-द्रष्टा हू और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शन रहित है। मैं आनन्दघन हूं और पुद्गल ऐसा नही है।'

'हे क्षपकराज! जिस सल्लेखना को तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है। उस आत्महितकारी सल्लेखना मे कोई दोष न आने दो। तुम परीषहो—क्षुधादि के कष्टो से मत घबडाओ। वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड नही सकते। उन्हे तुम सहनशीलता एव धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असख्यगुणी निर्जरा करो।'

'हे आराधक! अत्यन्त दुखदायी मिथ्यात्व का वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्व की आराधना करो, पचपरमेष्ठी का स्मरण करो, उनके गुणो मे सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग मे लीन रहो। अपने महाव्रतों की रक्षा करो, कषायो को जीतो, इन्द्रियो को वश में करो, सदैव आत्मा मे ही आत्मा का ध्यान करो, मिथ्यात्व के समान दुखदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक म अन्य कोई वस्तु नही है। देखो, धनदत्त राजा का सघ श्री मन्त्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखे फूट गईं और ससार-चक्र मे उसे घूमना पड़ा। राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद को उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभाव से उसने अपनी बँधी हुई नरक की स्थिति को कम करके तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध किया और भविष्यकाल मे वह तीर्थंकर होगा।'

'इसी तरह हे क्षपक! जिन्होने परीषहों एव उपसर्गों को जीत करके महाव्रतों का पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और नि.श्रेयस प्राप्त किया है। सुकमाल मुनि को देखो, वे जब वन मे तप कर रहे थे और ध्यान मे मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हे कितनी निर्दयता से खाया। परन्तु सुकमाल स्वामी जरा भी ध्यान से विचलित नही हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए। शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आँधी से उड़कर

घास का ढेर आ पड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यान से रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भाव से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए। पाँचो पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन बैर निकालने के लिए गरम लोहे की साँकलो से उन्हे बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गों को सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए। युधिष्ठर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल, सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्‌गति पाई।'

'अतः हे आराधक ! तुम्हे इन महापुरुषो को अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरता से सब कष्टो को सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार से हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करो।'

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरण मे निश्चल और सावधान बनाये रखते है। क्षपकके समाधि-मरण रूप महान् यज्ञ की सफलता मे इन निर्यापक साधुवरो के प्रमुख एव अद्वितीय सहयोग होने की प्रशसा करते हुए आचार्य शिवार्य ने लिखा है[९]—

'वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य है, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बडे आदर के साथ क्षपक की सल्लेखना कराते है।'

सल्लेखना के भेद :

जैन शास्त्रो मे शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[१०]—एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. **च्युत**—जो आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वतः छूटना है वह च्युत शरीर-त्याग (मरण) कहलाता है।

२. **च्यावित**—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, सक्लेश, अग्निदाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित शरीर-त्याग (मरण) कहा गया है।

३. **त्यक्त**—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की आसन्नता ज्ञात होने पर जो विवेक सहित सन्यासरूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त शरीर-त्याग (मरण) है।

इन तीन तरह के शरीर-त्याग मे त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योकि त्यक्त अवस्था मे आत्मा पूर्णतया जागृत एव सावधान रहता है तथा कोई सक्लेश परिणाम नही होता।

इस त्यक्त शरीर—मरण को ही समाधि-मरण, सन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखनामरण कहा गया है। यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है—

१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. **भक्तप्रत्याख्यान**—जिस शरीर-त्याग मे अन्न-पान को धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते है। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से नीचे का काल है। इसमे आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओं से रागद्वेषादि छोड देता है और अपने शरीर की टहल स्वय भी करता है और दूसरो से भी कराता है।

२. **इंगिनी**[११]—जिस शरीर-त्याग मे क्षपक अपने शरीर की सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरो से नही कराता उसे इगिनी-मरण कहते है। इसमे क्षपक स्वय उठेगा, स्वय बैठेगा और स्वय लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वय ही करेगा। वह पूर्णतया स्वाव-लम्बन का आश्रय ले लेता है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. आशाधर, सागारधर्मामृत ८-७।
२. भारतीय ज्ञानपीठ पूजाजलि पृ० ८७।
३. समन्तभद्र, रत्नक० श्रावका० ५, ३-७।
४. वही ५, ८।
५. वही ५, ९।
६. आशाधर, सागारधर्मा० ७-५८, ८२७, २८।
७. शिवार्य, भगवती आराधना, गा० ६६२-६७३।
८. सागारधर्मामृत ८-१०७।
९. भ० आ०, गा० २०००।
१०. आ० नेमिचन्द्र, गो० क०, गा० ५६, ५७, ५८।
११. वही गा० ६१।

समाज और जैन-विद्वान्

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

कभी हमने एक पंक्ति दोहराई थी—'**हम यूं ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी।**' उक्त पंक्ति सिद्धान्तशास्त्री पं० बालचन्द्र जी के हैदराबाद मे १७ अप्रैल ८९ को स्वर्गवास के बाद पुनः सार्थक हुई। उक्त स्थिति विद्वानो के सन्मान के प्रति समाज की उपेक्षित मनोवृत्ति को प्रकट करने के लिए काफी है। पंडित जी चले गये और देर से—एक मास बाद समाचार पत्र ने बताया। काश, होता कोई लक्ष्मी-सग्राहक या साधारण-सा भी नेता तो खबर बिजली की भांति फैल जाती। खेद है विद्वानो के प्रति समाज की ऐसी मनोवृत्ति पर।

कुछ का ख्याल है कि शायद, समाजप्रमुख आदि की एक आवाज मात्र पर विद्वान् का किन्ही उत्सवां मे सहज भाव से उपस्थित हो जाना जैसी, विद्वान की उदारता ही उसकी उपेक्षा मे मुख्य कारण हो। विद्वान् को एक पत्र मिलता है कि—'ठहरने, भोजन और आने-जाने के किराए की व्यवस्था रहेगी' और विद्वान् पहुच लेता है। यदि ऐसे अवसरों पर मुख्य आयोजक, सवारी आदि की अनुकूल व्यवस्था करके विद्वान् को ससन्मान स्वय लेने आते और सन्मान सहित वापिस पहुंचाने के उपक्रम करते तो विद्वानों का सम्मान कायम रहा होता। गुरु गोपालदास जी आदि के समय में ऐसा ही चलन रहा। दूसरा कारण है—दान मे दी जाने योग्य आत्मोद्धारकारी धर्म-विद्या का विद्वान् द्वारा बेचा जाना और त्याज्य धन (पैसा परिग्रह) का संग्रह किया जाना आदि।

हमारी दृष्टि मे श्री पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री गोलापूर्व समाज मे अपने समय के सिद्धान्त के सर्वोच्च ज्ञाता थे। पंडित जी का जन्म झासी जिले के सोरई ग्राम में ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं० १९६२ को हुआ। आपके पिता का नाम श्री अच्छेलाल और मातुश्री का नाम उजियारी था। १२ वर्ष की आयु मे माता-पिता का वियोग सहना पड़ा। आपने सन् १९२१ से १९२८ तक स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी मे रहकर सिद्धान्त व न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। पडित जी के ठोस ज्ञान के साक्षी उनके द्वारा किए गए धवलादि के अनुवाद और अनेक सम्पादन है। प्रारम्भ मे आप सन् १९२८ से १९४० तक जारखो, गुना, चौरासी मथुरा, उज्जैन आदि मे अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १९४० से धवला कार्यालय अमरावती और फिर सोलापुर ग्रन्थमाला मे संपादन आदि कार्य करते रहे। सन् १९६६ से १९७६ तक वीर सेवा मन्दिर दिल्ली मे 'जैन लक्षणावली' आदि का सम्पादन और अन्य ग्रन्थो के अनुवादादि करते रहे। पडित जी ने तिलोयपण्णत्ति, धवला, जम्बूदीवपण्णत्ति सगहो, आत्मानुशासन, पद्मनंदि पंचविंशतिका, लोकविभाग, पुण्यास्रव कथाकोश आदि के अनुवादादि किए। इसके अलावा आपने ज्ञानार्णव, धर्म परीक्षा, सुभाषित रत्नसदोह के अनुवाद भी किए। पडित जी की अन्तिम मौलिक रचना 'षट्खण्डागम परिशीलन' है जिसे ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है। वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'जैन लक्षणावली' (तीन भागों मे) अपूर्व कोश है—इसमे श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों पंथो के मान्य आगम-सम्मत पारिभाषिक शब्द (सोद्धरण) दिए गए है और उनका पूर्ण खुलासा दिया गया है। जैन समाज मे ऐसा सर्वाङ्गीण कोश अभी तक देखने मे नही आया।

जैन विद्वानों की अपनी एक परिषद् है—विद्वानों का परस्पर ध्यान रखने एव विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय कार्यों को पूर्ण करना उसका उद्देश्य है। पडित जी उक्त परिषद् के प्रतिष्ठित सदस्य थे। अत: परिषद् ने अवश्य समाचार पत्रों में स्वर्गीय को श्रद्धाजलि अर्पण के समाचार भेजे होंगे! पर, हमारे देखने मे नही आए, हां, काफी दिनो बाद वीर-वाणी सम्पादकीय मे समाचार मिले—जैन सदेश ने मासबाद समाचार दिए और गजट ने डेढ मास बाद।

वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी की बैठक में मान्य पंडित जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई और पंडितजी की सज्जनता, सादगी, विद्वत्ता और शालीनता का गुण-गान किया गया।

कुछ कहते है कि—जैन समाज में जैन सिद्धान्त के ज्ञाता को पंडित कहा जाने का चलन रहा है और अतीत में यह पद सर्वोच्च पद माना जाता था। पंडित को ज्ञान के साथ आचारवान् होना भी जरूरी था। तब लक्ष्मी भी पंडित-पद की दासी थी और अच्छे-अच्छे नामी सेठ-साहूकार भी पडितो के सम्मान मे पलक-पावड़े बिछाए रहते थे—सभी जन पडितों का मुंह जोहते थे कि कब उनके मुख से किसी सेवा का आदेश मिले। पर, आज सरस्वती ने लक्ष्मी के चरण पकड रखे है—अधिकांश पडित भी लक्ष्मी देवी की उपासना मे लग बैठे है। कोई आत्मसाधक-धार्मिक कार्यों—पूजा, पाठ, प्रतिष्ठा और विधानादि को लक्ष्मी-संचय का माध्यम बना बैठे। वे इनके बदले दक्षिणा में बड़ी राशियाँ तक वसूलने मे लगे है—किन्ही न इस व्यापार के लिए साधुओं को पकड़ रखा है तो किन्ही ने किसी संस्था को। कोई किन्ही अन्य बहानो से लक्ष्मी का दासत्व स्वीकार कर रहे है। गोया, वे बरसो की सरस्वती उपासना (जो उन्होंने विद्यालयो मे की थी) को शिव-मार्ग के स्थान पर ससार बढाने का साधन बना बैठे है। क्या, जैनशिक्षा मे परिग्रह-सचय के उपदेश की ही प्रमुखता है? विद्वान् इसे सोचे।

कुछ लोगो के ख्याल मे हुआ यह कि कभी पूर्व समय में पंडित हिम्मत हार बैठे और उन्होने आत्म-साधना के स्थान पर पेट-साधना को प्रमुख बना लिया—वर्षों तक धर्मशास्त्र पढने के बाद भी उनकी दृष्टि परिग्रह—पैसे पर जा अटकी और वह इसलिए कि हमारा गुजारा कैसे होगा? उसने इस तथ्य को नही सोचा कि चारित्रवान् ठोस ज्ञानी की आवश्यकताएँ कभी अधूरी नही रहती—उन्हें आज भी हाथो-हाथ उठाया जा सकता है। हाँ, जिनका पाण्डित्य खोखला हो और कच्चा चारित्र हो—उन्हे अवसर खोजने और तरह-तरह के प्लान (Plan) बनाने पड़ते हैं—रटन्त भाषा के धनी व कोरे व्याख्याता ही ऐसा करने को मजबूर होते है और ज्ञान और चारित्र मे अध-कचरे ऐसे ही लोगों के कारण आज समाज में पंडित के प्रति हीन-भावना का उदय हुआ है—कई लोगों को तो पडित नाम से भी चिढ़ जैसी हो गई है।

हमे याद है—एक दिन किसी ने एक ज्ञाता-चारित्र-पालक को पडित नाम से संबोधित किया, और दूसरे ने ऐसे संबोधन देने से उसे रोका। वे बोले—इन्हें पंडित मत कहो; भाई सा० जैसे सबोधन से सबोधित करो। उन्होंने कहा कि क्या आपको नही मालुम कि आज के अधिकांश पडित नामधारियों की स्थिति क्या है? उनमे बहुतेरे तो ज्ञानशून्य (मात्र उपाधिधारी) और जैन के नियम उप-नियमों के पालन से हीन है, कई ने धर्म जैसी विद्या को पेट-पूर्ति का साधन बना रखा है। भला, जिन्होंने जीवन भर जिनवाणी को पढ़ा—और उसके उपयोग करने को छोड सांसारिक वासनापूर्ति के साधनो को एकत्रित करने मे जुट गए, वे पडित कसे हो सकते है? इनमें कितनेक विवाह-सबन्धो की दलाली कर रहे है, तो कोई विवाह, अनुष्ठान, प्रतिष्ठा और पचकल्याणक आदि के माध्यमो से गहरी रकमे ऐंठ रहे है। वे बोले—हमारी दृष्टि से तो कुछ के गलत कारनामो से पूरा (श्रेष्ठ भी) पंडित समाज बदनाम हो गया है। अतः अधिकांश लोगो की धारणा पडित उपाधिमात्र से हट गई है। कई बार तो यह उपाधि विवाह-सबन्ध मे भी आड़े आकर अच्छे सम्पन्न रिश्ते नहीं मिलने देती, आदि :

उक्त टिप्पणीकार को हमने विद्वानो के पक्ष में बहुत कुछ कहा। आखिर, क्यो न कहते—हम भी तो पंडित है, पद की अवहेलना कैसे सुनते? हमारे साथियो को भी गुस्सा आना स्वाभाविक है—सभी तो च्युत जैसे नही—अच्छे भी है। अस्तु: क्षमा हमारा भूषण है, इसलिए हमने सम्भलकर मौन धारण किया पर,

हम सोचते है—जैनधर्म शोध का धर्म है और इसमें स्व-शोध को प्रमुखता दी गई है—फिर चाहे वह शोध आत्मा की हो या शुद्धात्मा बनने के लिए उसके साधक अन्तरग-बहिरग चारित्र की शोध हो। ऐसी ही शोध पडित का विषय है। पर, वर्तमान मे उक्त शोध का स्थान बहुलतया पुरातत्त्व, इतिहास और भूगोल जैसी बाह्य-शोधों को मिल बैठा है। हम आए दिन पढ़ते हैं—

ऋषभ के समय और भरत-भारत आदि के नामकरण की खोज, गणित के बहु आयामी प्रश्नों के हल की खोज। कोई ऋषभ और शिव को एक व्यक्तित्व सिद्ध करने की खोज मे है, तो कोई ऋषभ के काल को ईसापूर्व ५६२२–४०१६ बतला कर जैनियों को पुनर्विचार के लिए प्रेरित करने मे लगा है। गोया, प्रकारान्तर से वह चेलैंज दे रहा हो कि जब ऋषभ का काल लगभग ५००० वर्ष है तब बीच के शेष तीर्थंकरो के समय को अवकाश ही कहाँ? कोई महावीर के समय को विवादास्पद बना रहे है। कुन्दकुन्द के समय के विवाद मे तो हम आए दिन ही पढ़ रहे है। किन्ही २ साधुओ की प्रवृत्ति भी बाह्य (पर-) शोधों में ही है खेद;

पता नही, लोग क्यो स्व-शोधपरक जैन सिद्धान्त को जड-शोधो से जोड रहे है। जगह-जगह विभिन्न नामो के शोध-सस्थान खोल रहे है। हमे तो ऐसा भी सन्देह हो रहा है कि निकट भविष्य में कोई ऐसा शोध-सस्थान न खोलना पड़ जाय जो इस खोज को करे कि **उपलब्ध तथा कथित आगमों में जिनवाणी कौन सी है और पंडितवाणी कौन-सी है?** क्योकि आज जिसके मन मे जो जैसा आ रहा है—टीकाओ, व्याख्याओ मे वैसा ही लिख रहा है और सभी को जिनवाणी रूप मे पढ़ा जा रहा है, आदि। सभी प्रश्नो के हल खोजने चाहिए।

विद्वानों के बारे में—

निःसन्देह जैनधर्म की रक्षा और प्रचार मे विद्वानो का पूरा भाग है, इसे भुलाया नही जा सकता। आज हमारा जो अस्तित्व है और कुछ तन कर खड़े हो सकते है वह इन्ही की कृपा का फल है। इन्होने आड़े समयो मे भी धर्म की रक्षा की है। समाज इनके उपकारों से उऋण नही हो सकता। हमे तब दुख होता है जब समाज विद्वान् की जायज दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने से जी चुराता है और उसे अधीन समझने के बाद भी उतना नही देता जिससे वह ससम्मान गुजारा कर सके। फलतः वह अन्य मार्ग निकाल लेता है—उसका दोष नही। हाँ, उसका इतना मात्र दोष हो तो हो कि वह गृहस्थी के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझता है। स्मरण रहे—अब नए विद्वानो का निर्माण रुद्ध है और पुराने धीरे-धीरे बीत रहे हैं। अतः नव-निर्माण के लिए समाज को सोचना चाहिए और पडित पद का सम्मान कायम रहना चाहिए।

स्मरण रहे कि ज्ञानसाधना मे सतर्क आचारवान् पंडित का दर्जा किसी आचारहीन साधु से कही श्रेष्ठ है। जैसे एक सच्चे साधु को मुनि-मार्ग मे स्थिरता के लिए पहिले से ही परीषहो के सहने का अभ्यास करना होता है वैसे ही सच्चे पण्डित को अपने पाण्डित्य-पद की रक्षार्थ तंग-दस्त रहने का अभ्यस्त होना जरूरी है—उसे आगत कष्टो को सहते रहना चाहिए। यदि कष्ट न आएँ तो उन्हें बुलाकर उनका मुकाबला करना चाहिए। ऐसे मे ही उसका पद प्रतिष्ठित रह सकता है। अन्यथा, सम्भव है कि पैसा-सग्रह उसे मजबूर कर विलासी और उच्छृङ्खल बनादे और वह अपनी ज्ञान-साधना से च्युत होकर चरित्र-भ्रष्ट तक हो जाय। या अपंडितो के झुण्ड मे जा बैठे—जैसा कि प्रायः हो रहा/हो गया/हो चुका है। यदि हमारा विद्वान् भर्तृहरि महाराज के 'त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुः, प्रज्ञाभिमानोन्नता.' जैसे पाठ को पुन. पुनः दोहराता रहे तो उसका पद पुन. सुरक्षित हो सकता है।

प्रसग मे तगस्ती उपलक्षण है। इसमे अर्थ और यश दोनो की कामनाएँ भी सम्मिलित है। जब कोई अभिनदन करता है या कराता है, अभिनन्दन ग्रंथ के साधन जुटाता-जुटवाता है, पुरस्कार और भेंट आदि देता-लेता है, तब दोनो ही पक्ष गिर जाते है—देने वाला 'मैं गृहीता से ऊँचा हू—मैंने उसका सन्मान किया' और लेने वाला 'इसने मुझे ऊँचा उठाया अतः इसकी हर बात का मुझे समर्थन करना चाहिए' आदि जैसे भाव होने के कारण स्व-पद में स्थिर नही रह पाते।

हमारी दृष्टि से तो यदि जीव सम्यग्दृष्टि है तो वह स्वर्ग मे अवश्य पाश्चात्ताप करता होगा कि उसका अस्थायी और निरर्थक अभिनन्दन किसी पाप में निमित्त क्यों बना? क्या अभिनन्दन ग्रन्थ मे व्यय होने वाली विपुलराशि किन्ही असहाय जरूरतमन्दों की आवश्यकतापूर्ति कर उन्हें सुख-समृद्ध न बनाती? या कितने ही गृहीता तो इस भव मे 'जहाँ मिले तवा, परात, वहाँ गाँवें सारी रात' जैसी प्रवृत्ति वाले भी हो सकते है। फलतः उक्त सभी प्रसंगो को सोचकर विद्वान् प्रवृत्ति करे, तभी कल्याण सम्भव है। ☐

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')
वर्ष ४२ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८९

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	ऐसा मोही क्यो न ?	१
२.	कनककीर्ति नामके विभिन्न गुरु—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व के बंध का कारण —श्री मुन्नालाल प्रभाकर	३
४.	अज्ञात कायस्थ कवि जिनधर्मी प्यारे लाल सुषमा राहुल	७
५.	दर्शन पाहुड . एक चिन्तन—डॉ० कस्तूरचन्द 'सुमन'	६
६.	दिगम्बर मुनि—बाबूलाल जैन कलकत्ता वाले	१३
७	क्या कभी मुनि-धर्म रक्षा पर्व भी होगा ? श्री दिग्दर्शन चरण जैन	१५
८.	समन्वय मे अपने को न भूले —श्री विमल प्रसाद जैन	१६
६.	सल्लेखना और समाधिमरण —डॉ० दरबारी लाल कोठिया	१७
१०.	शुद्धि पत्र—धवला ३—पं० जवाहरलाल शास्त्री	२०
११.	मनमानी व्याख्याओं का रहस्य क्या है ? —पद्मचन्द्र शास्त्री	२५
१२.	मुनि-रक्षा परम अहिंसा है—संपादक	३१
१३.	अग्रिम चेतावनी—श्री सुभाष जैन	आवरण २
१४.	आगमो से चुने ज्ञानकण —श्री शान्तीलाल जैन कागजी	आवरण ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अग्रिम चेतावनी : सावधान !

मै नेता नहीं, पर बिन्ती तो कर ही सकता हूं कि--"जिनका नायक नहीं होता वे नष्ट हो जाते हैं और जिनके कई नायक होते है वे भी नष्ट हो जाते है।" आज धर्म के विषय में जैन के अधिसंख्य श्रावक और मुनि इसी दशा से गुजर रहे है प्रायः चारों संघ निरकुश है, मनमानी कर रहे हैं और कथित नेतागण मौन है। भला, ये कैसा नेतृत्व ? जिसमें बाड़ ही खेत को खाये जा रही हो ? हम समझे है कि यह सब एक सबल-नेतृत्व के अभाव और निर्बल-बहुनेतृत्व के सद्भाव का ही परिणाम है।

ऐसे नाजुक दौर में सब नेता पंथ-गत नेतृत्व को किनारे रख, मिल बैठें तथा सबल और निष्पक्ष एक धार्मिक नेतृत्व का निश्चय करे तथा उस नेतृत्व में 'धर्म-मार्ग-रक्षा' को समस्या को सुलझाये-शिथिलाचारियो में सुधार लाएँ। अन्यथा, वह दिन दूर नही जब दबी जुबान में काना-फूसी करने वाले खुलकर कहने को मजबूर होंगे कि ये और इनके गुरू तथा इनका धर्म सभी ढोंग है। और तब श्रावकों और दि० जैन मुनियो की चर्चा केवल प्राचीन-शास्त्रों तक ही सीमित रह जायगी। कहीं ऐसा न हो कि हम हाथ मलते ही रह जॉय ?

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्

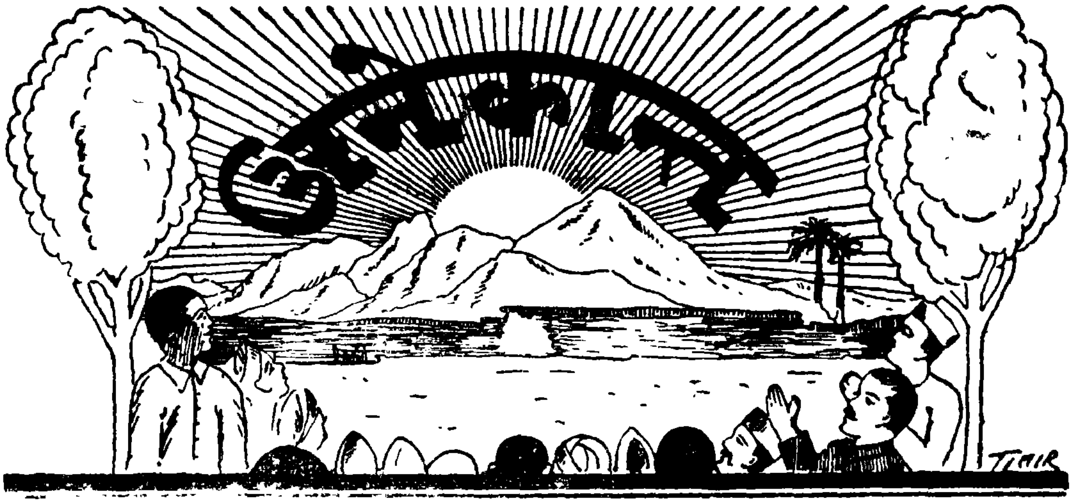

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४२
किरण ३
वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१५, वि० सं० २०४६
जुलाई-सितम्बर
१६८६

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै ?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जाको जिनवाणी न सुहावै ।।
वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे ।
कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन बावै ।।ऐसा०।।
रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै ।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ।।ऐसा०।।
पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावै ।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ।।ऐसा०।।
ज्यों गृह में संचे बहु अंध, त्यों वन हू में उपजावै ।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ।।ऐसा०।।
आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै ।
धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै ।।ऐसा०।।

कनककीर्ति नाम के विभिन्न गुरु एवं मुनि

—इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

शिलालेख संग्रहों, प्रशस्ति संग्रहो और इतिहास-पुस्तकों मे अब तक कनककीर्ति नाम के जिन १० गुरुओ का उल्लेख मिल सका है, उनका यथासम्भव कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण निम्नवत है :

१. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड दस, पृ० १४७ तथा पी० बी० देसाई कृत 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपीग्राफ्स, (शोलापुर, १६५७) मे पृ० २२ पर वह कनककीर्ति देव, जो गंग-नरेशों के प्रसिद्ध विद्वान एवं धर्मात्मा जैन महासेनापति श्री विजय के समाधिमरण स्मारक लेख के अनुसार उक्त राजपुरुष के गुरु थे (समय लगभग ८०० ई०)।

२. पेनगोल्ड के एक जैन व्यापारी के निषिधि लेख मे उसके गुरु के रूप मे उल्लिखित कनककीर्ति देव। (जैन शिलालेख संग्रह, खण्ड चार, लेख सं० ५६३)।

३. 'कषाय-जय-भावना' अपरनाम 'कषाय-जय-चत्वारिंशत' (संस्कृत पद्य) के रचयिता कनककीर्ति मुनि (समय लगभग १२वी शती ई०)। (प्रशस्ति संग्रह, आरा, प्रशस्ति सं० १७१-१७३)।

४. भकूर (गुलबर्गा, मैसूर) के जिनमंदिर की त्रि-मूर्ति के पादपीठ पर उसके प्रतिष्ठापक रूप मे अंकित मुनि कनककीर्ति (समय लगभग १३वी शती ई०)। (जैन शिलालेख संग्रह, खण्ड पाँच, लेख १५८)।

५. महाकवि रईधू के 'सन्मति जिनचरित' (समय लगभग १४४० ई०) मे उल्लिखित सिद्धसेन के शिष्य कनककीर्ति मुनि। (प्रशस्ति संग्रह, वीर सेवा मंदिर, भाग दो, ३५)

६. 'अष्टाह्निकोद्यापन' तथा 'नंदीश्वर-पंक्ति-जयमाल' (संस्कृत) के कर्ता कनककीर्ति। (प्रशस्ति सं० १७३, प्रशस्ति संग्रह, आरा)

७. ईडर के भट्टारक कनककीर्ति, जिन्होंने १८७५ ई० में कुंथलगिरि पर देशभूषण-कुलभूषण मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। (पं० नाथूराम प्रेमी कृत 'जैन साहित्य और इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृ० २१२, डा० कैलाशचंद जैन कृत 'जैनिज्म इन राजस्थान' (शोलापुर, १६६३) पृ० ७७)

८. पावागढ़ के प्राचीन जिन मन्दिरो का १८८० ई० में जीर्णोद्धार कराने वाले भट्टारक कनककीर्ति। यह सम्भवतया ऊपर क्रमांक (७) पर उल्लिखित भ० कनककीर्ति से अभिन्न है। वहां की पांच प्रतिमाओ पर उनका नाम प्रतिष्ठापक रूप से अंकित है। (प्रेमी जी कृत उपरोक्त 'जैन साहित्य और इतिहास' मे पृ० २२०)

९. नागौर के भट्टारक क्षेमेन्द्र कीर्ति के आदेश से १८८२ ई० मे पं० शिवजी लाल द्वारा रचित 'गजपथ-मंडल विधान' मे जिन पुरातन मुनियों को अर्घ्य प्रदान किया गया है, उनमे एक कनककीर्ति भी है। (प्रेमी जी कृत उपरोक्त 'जैन साहित्य और इतिहास' मे पृ० १९८)

१०. मूलनन्दिसंघ के नागौर पट्ट के भ० क्षेमेन्द्रकीर्ति (१८८२-८६ ई०) के प्रशिष्य, मुनीन्द्रकीर्ति के शिष्य और देवेन्द्रकीर्ति के गुरु कनककीर्ति (समय लगभग १९२५ ई०)।

टिप्पणी—उपर्युक्त लेख स्व० डाक्टर साहब द्वारा संकलित 'ऐतिहासिक व्यक्तिकोश' के अप्रकाशित अंश की पान्डुलिपि से व्यवस्थित किया गया है।

—(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व के बंध का कारण

ले० पं० मुन्नालाल जैन, 'प्रभाकर'

'अकिंचित्कर' पुस्तक मे मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व को न मानकर अनतानुबंधी कषाय को मिथ्यात्व के बंध का कारण कहा था, जिस पर मैंने मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है, ऐसा अपने लेख मे लिखा था, जो अनेकान्त वर्ष ४१ किरण ३ मे छपा था। उसमे लिखा था कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बध का कारण मिथ्यात्व ही है और आगम के प्रमाण भी दिये थे तथा आगम के अनुसार १२० प्रकृतियो के बंध के कारण भी पृथक-पृथक बतलाये थे, उसके पश्चात् जैन-सदेश १६ जनवरी, १६८६ मे स्व० पं० कन्छेदीलाल जी जैन ने अपने सम्पादकीय नोट मे लिखा था कि 'आचार्य श्री ने अपना मतव्य स्पष्ट किया है कि **"मिथ्यात्व आदि पांच प्रत्यय बंध के कारण है इसमें विवाद नहीं'** है किन्तु स्थिति एव अनुभाग बंध कषाय से होता है।'

यह ठीक है कि स्थिति एव अनुभाग कषाय से पडता है तथा मिथ्यात्व के साथ कषाय तो रहती है और मिथ्यात्व के उदय के बिना भी कषाय रहती है किन्तु मिथ्यात्व के अभाव मे कषाय मे ७० कोडा-कोडी सागर की स्थिति डालने की शक्ति नही है, इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व प्रकृति के बंध मे मूल कारण तो मिथ्यात्व है ही इसके अतिरिक्त स्थिति और अनुभाग डालने मे भी कषाय को ७० कोडा-कोडी सागर की शक्ति भी मिथ्यात्व के सहयोग से आयी है। जैसे अकेले एक अक का मान केवल एक ही होता है और यदि उसके आगे एक विन्दु को लगा दें, तो उसका मान एक से दश हो जाता है ऐसी अवस्था मे मिथ्यात्व को अकिंचितकर नही कहा जा सकता। फिर यह विवाद समाप्त भी हो गया था, परन्तु काफी समय के बाद दुबारा उसको उठाकर विवाद खडा कर दिया गया।

एक लेख वीरवाणी वर्ष ४१, अक १२-१३ मे काफी बड़ा छपा है, उसमे बधने वाली कर्म प्रकृतियो के पृथक पृथक नाम तथा उनके बध के कारण बतलाये है, जो आगम में भी अनेक जगह मिलते है तथा हमारे लेख में भी पहले दिये जा चुके है। अब जिन विन्दुओ पर विचार करना है, वे निम्न प्रकार है—(१) जब यह अभव्य जीव मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय रहते हुए भी व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान पूर्वक महाव्रतो मे प्रवृतिरूप आचरण करने लगता है तब उसके १६ प्रकृतियो का बंध नही होता, इसका प्रमाण समयसार की गाथा २७५ दी है ऐसा वीरवाणी मे १६० पृष्ठ पर कहा है। जब कि समयसार की गाथा २७५ मे जो कहा है वह उससे विपरीत है। समयसार की गाथा मे यह कहा है—'सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पणो वि फासेदि। धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खय णिमित्त ॥' २७६

वह अभव्य जीव धर्म को श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और स्पर्शता है वह ससार भोग के निमित्त जो धर्म है, उसी को श्रद्धान आदि करता है, परन्तु कर्म क्षय होने का निमित्त रूप धर्म का श्रद्धान नहीं करता। इसमे ऐसा कही नही कहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान निश्चय तथा व्यवहार रूप दो प्रकार का है, हा, मोक्षमार्ग प्रकाश (मुसद्दीलाल जैन चेरिटेवल ट्रस्ट से प्रकाशित), पृ० ४०४ पर ऐसा कहा है—विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम सो तो निश्चय सम्यक्त्व है, जाते यहु सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। सत्यार्थ ही का नाम निश्चय है। बहुरि विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है ऐसे एक ही काल विषै दोउ सम्यक्त्व पाइए है अर्थात निश्चय का जो कारण है, वह व्यवहार होता है, अगर निश्चय नही है तो उसका कारण व्यवहार कहा से आ गया ? इससे स्पष्ट होता है कि प्रथम गुणस्थान में व्यव

हार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यग्चारित्र कदापि नहीं बनता। वहा तो मिथ्या चारित्र ही होता है, और वह मिथ्याचारित्र बिना मिथ्यादर्शन के कदापि नही हो सकता। इससे सिद्ध है कि प्रथम गुणस्थान मे मिथ्याचारित्र का मूल कारण मिथ्यादर्शन ही है, न कि क्रियावती शक्ति जैसा कि लेख में क्रियावती शक्ति के कारण से होने वाला योग कहा है, ऐसा आगम मे कही भी देखने मे नही आया। हां, पचाध्यायी मे पृ०४६ पर क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति क्या है? इस बारे मे कहा है—

"तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पद लक्षणो वा स्यात्।
भाव: शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवानिरशाश:॥१३४

इससे यह सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गलो मे जो एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जो गमन होता है, उसमे क्रियावती शक्ति कारण है और प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त अन्य गुणो मे जो तारतम्य रूप परिणमन होता है वह भाववती शक्ति है। इसीलिए जीव तथा पुद्गल के सिवाय बाकी के द्रव्यों को निष्क्रिय कहा है। प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त बाकी गुणो के अशो मे तरतम रूप से परिणमन होता है। अत. क्रियावती शक्ति को मिथ्या आचरण का कारण बताना आगम विपरीत है।

पचास्तिकाय पृ० २७६ गाथा १०७ की तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा १ मे कहा है। *अथ-व्यवहारसम्यग्दर्शन कथ्यते*—

एव जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्सभावदोभावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दमण सद्दो हवदि जुत्ते।

अर्थ—जैसा पहले कहा है वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए पदार्थों को रुचिपूर्वक श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के ज्ञान मे सम्यग्दर्शन शब्द उचित होता है। लेख मे वीरवाणी पृ० १६० पर लिखा है कि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे अभव्य जीव के व्यवहार सम्यग्दर्शन से तत्त्व-*श्रद्धान व्यवहार सम्यग्ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) पूर्वक महाव्रतो मे* प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो का बंध नही होता और इसका प्रमाण समयसार गाथा २७५ दिया है। पर, गाथा २७५ मे ऐसा बिलकुल नही कहा, उसमे तो केवल यह कहा है कि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव संसार के भोगों के निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान करता है, परन्तु कर्म क्षय निमित्तभूत जो धर्म है उसका श्रद्धान नही करता। मुझे तो बड़ा आश्चर्य है कि लेख में २७५ गाथा का अर्थ ऐसा कैसे कर लिया, जोंकि गाथा के बिलकुल विपरीत है। आश्चर्य है कि किसी विद्वान् ने भी इस विषय पर कुछ नही कहा। यदि आगम के अनुकूल है तो उसका खुलासा करके समर्थन करना चाहिए था अन्यथा विरोध।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में जो मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहा गया था, पक्षपात व उसकी पुष्टि करने के लिए तोड़-मरोड़कर गाथा का अर्थ किया गया है। किन्तु गलत बात को सिद्ध करने के लिए कितने ही प्रमाण दिये जायें गलत बात सही सिद्ध नही हो सकती। गलत तो गलत ही रहेगा। हा, श्री कैलाशचंद्र सेठी जयपुर ने, तथा श्री पीयूष जी लशकर, ग्वालियर वालो ने इसका विरोध किया, जो सराहनीय है। क्योंकि मिथ्यात्व जैसे महान पाप को बंध का कारण न मानने के प्रचार से जनता का बहुत अहित होगा। साधारण जनता गहराई मे तो जाती नही है, कुछ विद्वान् भी हाँ मे हाँ करत है फिर साधारण जनता को कौन समझायेगा? साधारण जनता अनादि काल से मिथ्यात्व के चक्कर मे पड़कर ससार म भ्रमण कर रही है, उपदेश देते-२ भी मिथ्यात्व का त्याग नही करती। अगर उसको मिथ्यात्व का समर्थन भी प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या? निश्चय और व्यवहार तो दो नय है। नय वस्तु के स्वरूप का कथन करने वाली होती है। निश्चय नय वस्तु के सत्यार्थ स्वरूप को बतलाती है और व्यवहार नय उसके कारण को। जैसा प० दौलतराम जी ने बड़ी सरल भाषा मे कहा है, 'सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो' अर्थात् कार्य के होने पर उसमे जो कारण होता है उस कारण मे कार्य का आरोप करके व्यवहार से उसको उस रूप कहा जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना कार्य अर्थात् *आत्म-श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन और उसकी प्राप्ति मे* जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सात तत्त्वों का चिंतन, जिसमे दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का नाश होता है, वह सात तत्त्वो का चिंतन कारण है तथा सच्चे देवशास्त्र गुरु का श्रद्धान भी कारण होता है, इसलिए कारण मे कार्य का

उपचार करके इनको भी सम्यग्दर्शन कहते है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही इनको व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहते है फिर प्रथम गुण-स्थान मे दर्शनमोह (विपरीताभिनिवेश) के अभाव बिना व्यवहार-सम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान रूप महाव्रतो का आचरण कहा से आ गया ? द्रव्यलिंगी तो मात्र बाह्य क्रियाये करता है। इसके अतिरिक्त आगम मे अनेको जगह पर बताया है।

कहा तक लिखे, तथा समयसार की गाथा १५५ मे भी परमार्थ स्वरूप मोक्ष का ही कारण बताया है।

जीवादि सद्दहण सम्मत्त तेसिमधिगमो णाणं।
रायादि परिहरण चरण एसो दु मोक्ख पहो।

अर्थात् निश्चय से मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र है तथा पचास्तिकाय गाथा १०५ मे भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया है और यह भव्य जीव को होता है तथा गाथा १५६-१६१ मे निश्चय मोक्ष-मार्ग के साधन को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है, निश्चय और व्यवहार दो मोक्षमार्ग हैं, ऐसा नही कहा। इसके अतिरिक्त अष्ट सहस्री पृ० ३३५ पर कहा है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है तथा प० दौलतराम जी कहते है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के वश होकर ससार मे भ्रमण करता हुआ जीव दुःख सह रहा है ऐसे महादुखदायी मिथ्यात्व को बध का कारण कैसे न कहे तथा वीरवाणी के लेख मे ये भी कहा है कि 'अभव्य जीव तत्त्व श्रद्धानी और तत्त्वज्ञानी होकर महाव्रतो मे प्रवृत्तिरूप आचरण करके उसके आधार पर चार लब्धियो को प्राप्त करता है जबकि आगम मे ऐसा कही नही कहा। आगम मे तो यह कहा है कि भव्यमिथ्यादृष्टि जीव को प्रथम चार लब्धियो की प्राप्ति होने पर (तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन कहो, एक ही बात है) भी होने का कोई नियम नही है। हाँ, पाचवी करणलब्धि के होने पर सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) अवश्य होता है। लब्धिसार मे इसका विशेष वर्णन है। सक्षेप मे इसका वर्णन मो० मा० प्रकाश पृ० ३१७ पर इस प्रकार दिया है कि (१) ज्ञानावरणादिकर्मों का क्षयोपशम होने से आत्मा की ऐसी शक्ति का होना जिससे तत्त्वविचार कर सके, सो क्षयोपशम लब्धि, (२) कषाय की मदता का होना, जिससे तत्त्वविचार मे उपयोग लगावे, (३) देशना-जिनवाणी के उपदेश का मिलना, (४) प्रायोग लब्धि--पूर्व कर्मों की शक्ति घटकर अन्तःकोटाकोटिप्रमाण रह जाना और नवीन बध अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण सख्यातवा भाग होना।

इतना होने पर भी यदि जीवादि सप्त तत्त्वों के विचार करने मे उपयोग लगावे और जब तक करणलब्धि की प्राप्ति न हो जाय, तत्त्वविचार करता रहे, तब तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भव्य मिथ्यादृष्टि जीव को होती है। और यदि उपयोग को जीवादि सात तत्त्वो के विचार मे न लगाकर अन्य जगह लगावे तो सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। अभव्य के तो सवाल ही नही, क्योकि अभव्य मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्रकट करने की योग्यता ही नही। वह तो केवल भव्यमिथ्यादृष्टि जीव मे होती है अभव्य मे नही। तथा अभव्य जीव स्वर्ग आदि के सुखो को, जो प्राप्ति करता है उसका कारण शुभोपयोग से होने वाला पुण्य है न कि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे होने वाला महाव्रत जैसा कि लेख का आशय है।

वीरवाणी पृ० ३५० पर लिखा है कि करणलब्धि की प्राप्ति भेदज्ञानी होने पर ही होती है तथा भेदज्ञान की प्राप्ति क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना तथा प्रायोग लब्धियो की प्राप्ति होने पर होती है, ऐसा आगम मे कही नही कहा। लेख मे इसका आगम प्रमाण भी नही दिया। मोक्ष मार्ग प्र० मे पृ० ३१८ पर कहा है कि चार लब्धि वाले के सम्यक्त्व होने का नियम नही है। हाँ, करणलब्धि वाले के सम्यक्त्व होने का नियम है, जिसके सम्यक्त्व होना होता है उसी जीव के करणलब्धि होती है, अभव्य के करणलब्धि नही होती क्योकि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव के भेदज्ञान (आत्मज्ञान) के अभाव मे जितनी भी क्रियायें होती है वह सब मिथ्याचारित्र होता है। यदि वह क्रियायें शुभोपयोग रूप है तो पुण्य का बध होता है और यदि अशुभोपयोग रूप होती है तब पाप का बध होता है। इसका जो पुण्य बध होता है, वह सम्यग्दृष्टी के पुण्य बध

से ज्यादा भी हो सकता है, जिससे मिथ्यादृष्टि अभव्य नवग्रीवक तक चला जाय और सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग तक ही जाय' जैसे दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है—

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक लो उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो।''

इसका कारण मिथ्यात गुणस्थान मे शुभोपयोग से होने वाला पुण्य है।

वीरवाणी पृ० १६१ पर लिखा है कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो का बध न होते हुए भी उसका उदय रहता है इसमे लेखक का कहना है कि उन महानुभावो को ध्यान देना चाहिए, जो मिथ्यात्व कर्म के उदय मे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बध नियम से मानते हैं पर मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बध नियम से होता है, इसका प्रमाण गोमटसार गाथा ६५ से १०३ तक प्रत्येक गुणस्थान मे कर्मों की सब प्रकृतियो की व्युच्छित्ति बताई है। उसमे प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे १६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही है अर्थात् १६ प्रकृतियो का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान मे नियम से होता है, उससे आगे के गुणस्थान मे नही होता। क्योकि वहा बध का कारण मिथ्यात्व का अभाव है। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानो मे बध के कारणों के अभाव हो जाने से बाकी प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती जाती है उनकी संख्या तथा नाम इन्ही गाथाओ मे बताये है। तथा गाथा ६७ मे स्पष्ट कहा है कि ये बंध व्युच्छित्ति नियम से होती है। गाथा—

अयदे विदिय कसाया वज ओराल मणु दुग णुमा वाऊ।
देमे तदिय कसाया णियमेणिह बध वोच्छिण्णा॥

इसके अतिरिक्त मो० मार्ग प्र० पृ० ३३ पर भी कहा है—''शुभयोग होउ वा अशुभयोग होउ, सम्यक्त्व पाये बिना घातिया कर्मन की तो समस्त प्रकृतिनिका निरंतर बंध हुआ ही करे है, कोई समय किसी भी प्रकृति का बंध हुआ बिना रहता नाही। बहुरि अघातियानि की प्रकृतिनि-विसै शुभोपयोग होते पुण्य प्रकृतिनि का बध हो है।' इस सब कथन का सारांश यह है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है अन्य कोई कारण नहीं। ऐसा आगम मे सब जगह कथन है। इसके विपरीत अन्य कोई कारण आगम में देखने मे नहीं आया और न वीरवाणी के लेख मे ही कोई आगम-प्रमाण दिया है। और ना ही जो प्रमाण दिये है उनमे ही कही मिथ्यात्व के बध का कोई दूसरा कारण बताया है।

सभी भाँति 'मिथ्यात्व ससार-भ्रमण का मूल है, इसे अकिंचित्कर' सिद्ध करने का प्रयत्न करना तीर्थंकरो की वाणी के प्रति बगावत करना और जिनवाणी को झुठलाना है। फलतः ऐसा वचन जिनवाणी नही हो सकता, भले ही उसे 'आधुनिक-गुरुवाणी' कह दिया जाय! हाँ, इतना अवश्य है कि—सभी गुरु छद्मस्थ होते है—अतः उनकी वाणी मिथ्या भी हो सकती है। हमे तो आश्चर्य है कि 'अकिंचित्कर' की पुष्टि मे सलग्न कुछ विद्वान् पक्षपात के व्यामोह में पड़, क्यो अपनी विद्वत्ता को प्रदर्शित कर रहे है? ऐसे प्रयास से तो उनकी प्रतिष्ठा को बट्टा ही लगा है—ऐसा हमारा मत है।

२१३४, दरियागंज, दिल्ली

''मिथ्याभाव अभाव तै, जो प्रगटै निज भाव।
सो जयवन्त रहो सदा, यह ही मोक्ष उपाय॥
इस भव के सब दुखनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाय॥
बहु विधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निज भाव।
ताको होत अभाव ह्वै, सहजरूप दरसाव॥''

अज्ञात कायस्थ कवि-जिनधर्मी प्यारेलाल

□ सुषमा राहुल, एम० ए०, (शोध-छात्रा)

हिन्दी साहित्य में जैन साहित्यकारो की उपेक्षा के कारण हिन्दी साहित्य का इतिहास अपूर्ण है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एव विद्वान भूतपूर्व कुलपति विक्रम-विश्व-विद्यालय ने एक कृति 'जैन कथाओ का सांस्कृतिक अध्ययन' की भूमिका मे यथार्थ ही लिखा है। अभी तक जितने हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे गये है, उनकी सबसे बड़ी कमी यही रह गई है कि साहित्य की विभिन्न विधाओ के विकास मे जैन साहित्य के योगदान का आकलन ठीक प्रकार से नही किया जा सका।

जिस दिन कोई सुधी प्रबन्ध-काव्य, नाटक, कहानी आदि के विकास मे इस कड़ी को जोड़ देगा, उस दिन हिन्दी-साहित्य सचमुच ही वैभवशाली हो सकेगा। जैन-साहित्य की बहुमूल्य देन से वचित होकर हमारा साहित्य अभी वचितो की श्रेणी में है।

किन्तु इससे अधिक दुर्भाग्य का विषय है—जैन-साहित्य के इतिहास मे भी अनेक समर्थ साहित्यकारो का उल्लेख तक नही मिलता। सम्पूर्ण भारतवर्ष के जैन-शास्त्र-भण्डारों मे अनेक प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी एव विविध भाषाओ की कृतिया अपने उद्धार की प्रतीक्षा में मौजूद है।

गुना जिले की प्राचीनता असंदिग्ध है। चन्देरी, बूढ़ी चन्देरी, तूमैन, थूबोन, बजरगढ़ अनेक ऐतिहासिक स्थल है। गुना जिले के अधिकांश देवालयो मे हस्तलिखित, प्रकाशित एव अप्रकाशित ग्रन्थ उपलब्ध है, इन्ही शास्त्र-भण्डारो के आधार पर कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया जा रहा है।

कायस्थ श्री प्यारेलाल की जीवनी अज्ञात है, बजरगढ़ के देवालय मे एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त हुई है जिसमें स्वयं प्यारेलाल जी ने लिखा है—

पोथी फुन्दीलाल की मुकाम बजरंगढ के बासी। अक्षर लाला प्यारेलाल कायस्थ के उस वक्त लड़काबारे पढ़ा, उसे संवत १९१०, पौष शुद्ध १,, इसी से प्रतीत होता है कि उनका बाल्यकाल बजरंगढ़ मे बीता, तत्पश्चात वह ईसागढ़ आकर बस गये। ईसागढ़ उस समय तात्कालिक महाराज जार्ज जीवाजीराव सिन्धियों के राज्य के अन्तर्गत एक जिला था।

कायस्थ श्री प्यारेलाल के हमे दो रूप देखने को मिलते हैं—लिपिकार एव कवि। कायस्थ श्री प्यारेलाल जन्मजात जैन नही थे। किन्तु 'महावीराष्टक' के रचनाकार एवं जैनदर्शन के तलस्पर्शी मनीषी कवि एव विद्वान् पडित भागचन्द जी के सम्पर्क मे आने के कारण उनका जैन-दर्शन से परिचय हुआ, और उस महान व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर अपने को कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी लिखने लगे: अभी तक उनके द्वारा लिपिकार के रूप मे लिपि की गई सम्वत २०८९ की पांडुलिपि उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, ग्राम पिपरई मे उपलब्ध हुई है। पडित भागचन्द जी की इस कृति मे उन्होने लिखा हैं—"इस पोथी के हरफ लिखे लाला प्यारेलाल कायस्थ जिन-धर्मी ने।"

नाम माला उनकी एक स्वतंत्र एव मौलिक कृति है, इसके अतिरिक्त संवत २०१६ की एक हस्तलिखित पोथी में उनके द्वारा लिखे १८ गीत उपलब्ध होते हैं। नाम-माला के शुभारम्भ मे कवि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि महान ज्ञानी एव प्रसिद्ध पडित भागचन्द की संगत में आकर उनकी जैनधर्म मे श्रद्धा उत्पन्न हुई।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः,

अथ नाम माला लिख्यते,

बंदो पाँचों परम गुरु,

मन वच शीश नवाय,

तिनके ही प्रताप से,
नसे विघ्न समुदाय,
बंदौ जिनवाणी विमल,
जग माता सिर मौर,
तुम बिन को संसार से,
तार दिये शिव ठौर।

भागचन्द जी भाई

भागचन्द भाई महाज्ञानवान विख्यात।
तिनकी संगत पाय हम परखी जिन-ध्वनि बात॥
तब सम्यक सरधा भई, गई मुधा मत रीत।
सुधा जैन वचनान की, लगी निरन्तर प्रीत॥
ईसागढ़ माही बसे, कायस्थ प्यारेलाल।
बाल-बोध कारण निमित्त, रची नाम की माल॥
संवत सन् उन्नीस अरु, ऊपर सत्रह साल।
भादव शित पड़िमा सुदिन, बरतें पंचम काल॥

कवि कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी के अभी तक १८ गीत उपलब्ध हुए है। गीत के मूल्यांकन के पूर्व तीन गीत दिये जा रहे है—

न छोड़ी डौरतियाँ थारे चरण की,
ये जन्म भए चरन के चेरे,
हरी व्यथा जिन जनम मरण को,
न छोड़ी डौरतिया थारे चरण की,
तुमरे चरण-कमल ध्यावत,
पावत निधि शुभ ज्ञान चरन की,
न छोड़ी·····

जब लग चरण बसे प्यारे उर,
नास करो गति करम अरिन की,
न छोड़ी डौरतियाँ थारे चरण की॥

"जिनवाणी से नेह लगो,
जास, उदोत, जोत, रवि ऊगत,
मिथ्याति मृग भगो,
कुगुरु कुदेव धर्म लखे,
ये जिमि रंग पतंग लगो,
जिनवाणी से नेह लगो,
कल्पित ग्रन्थ रचे स्वारथ वश,
ता भ्रम जीव ठगो,
प्यारेलाल काल बहु सोयो,
सो जिन ध्वनि सुनत जगो
जिनवाणी से नेह लगो।"

× ×

श्रावक धर्म पाले नहीं,
जैनी हुआ तो क्या हुआ ·····
स्वाध्याय सुमरन ध्यान लग,
मिल मंद मति खेले जुआ'
वृषभादि अमृत द्वार तज,
अघवारि जल खोदे कुआ,
प्यारे धर्म धारे बिना,
गति चार में जन्मा मुआ,
जैनी हुआ तो क्या हुआ?"

—कवि प्यारेलाल

कवि प्यारेलाल द्वारा रचित गीत उनकी प्रारम्भिक साधना काल के गीत प्रतीत होते है। किन्तु उनकी अपनी विशिष्ट शैली है, जिस बात को वे कहना चाहते है, कम-से कम शब्दों मे बड़ी सफाई मे अभिव्यक्त करते है। भाषा में बुन्देलखण्डी, राजस्थानी भाषा का सम्मिश्रण है। उनके चार-पाच पंक्तियो के गीत हृदय को छू लेते है। आवश्यकता है कि उनके अन्य गीतो की शोध की जाये।

नाममाला कवि कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी की एकमात्र दुर्लभ कृति है।

उपलब्ध पांडुलिपि का विवरण

नाम-माला

पांडुलिपि के पृष्ठ की लं० १ फुट १ इंच × ७ इंच, पृष्ठ संख्या—८०, दोहों की संख्या—६८६, लेखन-काल—१६१७, संवत भादो सुदी पंचमी॥

नाम माला जैन धर्म के सन्दर्भ मे दोहों के माध्यम से अधिकतम ज्ञान देने वाली दुर्लभ कृति है। इस कृति मे श्रावकों से लकर श्रमणों की आचार संहिता, स्वर्ग, नरक

(शेष पृ० १२ पर)

दर्शन-पाहुड : एक चिन्तन

☐ डॉ० कस्तूरचंद्र 'सुमन'

आध्यात्मिक क्षेत्र में भगवान् महावीर के पश्चात् हुए आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान सर्दैव स्मर्णीय रहेगा। उन्होने अपने आध्यात्मिक जीवन मे जो अनुभव प्राप्त किये, उन्हें अपने तक ही सीमित बनाये रखना उन्हें इष्ट नही रहा। उन्होंने अपने अनुभवो को युक्तियो के द्वारा ग्रन्थों के माध्यम से जन-जन तक पहुंचाया है। उनके ग्रन्थ आज जीवों के कल्याण मे कारण बने हुए है।

आचार्य-प्रणीत 'पाहुड' ग्रथो मे सर्वप्रथम रचा गया 'दर्शनपाहुड' ग्रथ है। इसमे मात्र छत्तीस गाथाएँ है किन्तु उनमें प्रतिपादित विषय आत्मकल्याण की दृष्टि से हृदय-ग्राही है। इसका अध्ययन-मनन और चिन्तन करने से मुमुक्षु को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का सहज ही बोध हो जाता है और वह बोधि की प्राप्ति मे लग जाता है।

इसमे प्रथम गाथा मे वृषभदेव और वर्द्धमान की वन्दना की गयी है। शेष गाथाओ मे सम्यक्त्व का महत्त्व (गाथा २-१२), सम्यक्त्व का स्वरूप—(गाथा १६-२१) सम्यक्त्व के कारण (गाथा १४-१८) और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध (गाथा २२-३६) कराया गया है। इस प्रकार अल्पकाय होते हुए भी अध्यात्म के क्षेत्र मे इसका बड़ा महत्त्व है। यदि यह कहा जाय कि आचार्य ने 'गागर मे सागर' भर दिया है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

मंगलाचरण में आचार्य की अव्यक्त भावना—आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रस्तुत ग्रथ मे तीर्थंकर वृषभदेव और वर्द्धमान को नमस्कार किया है।[1]

गाथा मे प्रयुक्त 'जिन-वर' शब्द मे 'व' और 'र' अन्तस्थ वर्ण है। कोशकारो द्वारा मान्य अन्तस्थ वर्णों के 'य र ल व' क्रम मे[2] 'र' वर्ण दूसरे और 'व' वर्ण चौथे क्रम मे आने से 'वर' शब्द चौबीस सख्या का प्रतीक ज्ञात होता है। प्रस्तुत गाथा मे आदि और अन्तिम तीर्थंकरो के नामोल्लेखों का तात्पर्य भी यही है। इससे आचार्य की चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार करने की भावना अभिव्यक्त होती है। आचार्य अकलकदेव ने भी इसी प्रकार लघीयस्तोत्र के आदि मे ऋषभ और महावीर का नाम-स्मरण कर चौबीसो तीर्थंकरो को नमन किया है।[3]

रचना का उद्देश्य—प्रस्तुत रचना का उद्देश्य आत्म कल्याण मे प्रवृत्ति और भव-बन्धनकारी प्रवृत्तियो से निवृत्ति के उपाय बताकर जीवो को मोक्षमार्ग मे सयोजित करना रहा ज्ञात होता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे दो साध्य और दो उनके साधन हैं। इनमे काम और मोक्ष साध्य है। इनके साधन है अर्थ और धर्म। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष के लिए धर्म को उपादेय बताया। उन्होंने इसीलिए ग्रंथके आरम्भ मे ही धर्म का मूल समझा देना आवश्यक समझा था। उन्होने कहा कि जिस धर्म से जीव को ससार के दुःखो से उत्तम सुख की ओर ले जाया जा सकता है उस कर्मविनाशक धर्म[4] का मूल दर्शन है।[5] उनका उद्देश्य था दर्शन सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत करना। ग्रथ की विषय वस्तु मे ज्ञात होता है कि आचार्य अपने उद्देश्य मे सफल रहे है।

दर्शन का अर्थ—सामान्यतः दर्शन के तीन अर्थ प्राप्त होते है—(१) दृश् धातु मे ल्युट् प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न अर्थ देखना। (२) जिसके द्वारा देखा जावे।[6] (३) षड्दर्शन—बोद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनी।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन की व्याख्या उक्त दर्शन के सामान्य अर्थों से भिन्न की है। भिन्नता का कारण है उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और जीव कल्याण हितैषी भावना। उनकी दृष्टि मे दर्शन का अर्थ था—"सम्यक्त्व,

संयम और आत्मा के उत्तम क्षमा आदि निजधर्म रूप निर्ग्रन्थ ज्ञानमयी मोक्षमार्ग का दर्शन कराने वाला।[९]

यहां मोक्षमार्ग का दर्शक होने से दर्शन का अर्थ रत्नत्रय नहीं है। दर्शन का अर्थ है—सम्यक्त्वमयी दर्शन[७] और सम्यक्त्व का स्वरूप है—आगमोक्त षड्द्रव्य, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय और सप्त तत्त्व पर श्रद्धा।[८] आचार्य ने इसे व्यवहार सम्यग्ज्ञान और आत्मिक श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन बताया है।[९]

कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचार—कुन्दकुन्द की आस्था प्रदर्शन में न रहकर दर्शन में थी। वे जानते थे कि दर्शन दिखाने की वस्तु नहीं है। दिखाने से सुख नहीं दुःख ही प्राप्त होते हैं। बिना भावों के क्रियाएँ सुखकारी नहीं होतीं।[१०] इसीलिए उन्होंने दर्शन को भावपूर्वक धारण करने के लिए कहा।[११]

कुन्दकुन्द पहले आचार्य हैं जिन्होंने मानवों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वे समझ गये थे कि शक्ति के बाहर धारण किया गया दर्शन स्थिर नहीं रह सकेगा। इसीलिए उन्होंने उद्घोषणा की थी कि जितनी शक्ति हो, उतना ही दर्शन धारण करना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो उस पर श्रद्धान अवश्य रखे क्योंकि केवली जिनेन्द्र का वचन है कि सम्यक्त्व श्रद्धावान के ही होता है।[१२]

इस उद्घोषणा का फल यह हुआ कि चारित्र से शिथिल या च्युत हो जाने पर भी श्रद्धा बनी रहने से जीव पुनः आत्मकल्याण में प्रवृत्त हुए। मुनि माघनन्दि का उदाहरण इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

आचार्य की मान्यताएँ शाश्वत हैं। दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान होने की मान्यता[१३] आज भी प्रचलित है। प० दौलतराम द्वारा दर्शन को मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी कहा जाना इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय उदाहरण है।[१४] उनकी मान्यता थी कि दर्शन से जो जीव च्युत हो जाते हैं वे सांसारिक दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते। संसार में ही भटकते रहते हैं। उनको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र से च्युत तो सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे पुनः दर्शन धारण कर लेते हैं।[१५]

आचार्य की दृष्टि में मनुष्य के लिए यदि कोई सार-वस्तु थी तो वह था ज्ञान। परन्तु सम्यक्त्व को उन्होंने ज्ञान से भी बढ़कर माना था क्योंकि ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्व बिना नहीं होते और मोक्ष बिना चारित्र के नहीं होता।[१६] उन्होंने जीव को सिद्ध होने में सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र चारों की अपेक्षा की है।[१७] उनकी मान्यता थी कि जो बहुत शास्त्रों के पारगामी होकर भी सम्यक्त्व से रहित हैं, वे भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधनाओं से रहित होकर संसार में ही भ्रमते हैं।[१८]

सम्यक्त्व का महत्त्व दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्ष तक उग्र तप करने पर भी बोधि-सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।[१९] दर्शन वृक्ष की जड़ के समान है। जड़ के न रहने से जैसे वृक्ष की शाखाएँ नहीं बढ़ती, ऐसे ही दर्शन के बिना जीव मुक्त नहीं होता।[२०] तीर्थंकरों के पंचकल्याणक भी विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर ही होते हैं।[२१]

सम्यक्त्वी के कर्त्तव्य—आचार्य ने सम्यक्त्वी को तीन देव ही आराध्य बताये हैं। उनकी दृष्टि में चौसठ चमरों और चौंतीस अतिशयों से युक्त प्राणियों के हितकारी और कर्मक्षय के कारण अर्हन्त प्रथम देव हैं।[२२] जरा और मरण-व्याधि के हर्ता, सर्वदुःख-क्षयकर्त्ता, विषय-सुख दूर करने के लिए अमृत तुल्य औषधि स्वरूप जिनवाणी दूसरा[२३] और तीसरे गुरु हैं। गुरुओं में प्रथम निर्ग्रन्थ साधु दूसरे उत्कृष्ट श्रावक और तीसरे आर्यिकाओं का उल्लेख किया गया है।[२४]

कुन्दकुन्द की दृष्टि में वन्द्य और अवन्द्य—आचार्य ने उत्पन्न हुए बालक के समान सहज उत्पन्न निर्विकारी निर्ग्रन्थ रूप को वन्द्य कहा है। उनकी मान्यता है कि जो ऐसे सहज उत्पन्न रूप को देखकर मात्सर्य से नमन नहीं करता वह संयमी भी क्यों न हो, तो भी मिथ्या दृष्टि ही है।[२५] सम्यक्त्व रहित हैं जो शीलव्रतधारी दिगंबर साधुओं को नमन नहीं करते।[२६]

आचार्य की दृष्टि में वस्त्रविहीन वे साधु भी वन्द्य नहीं, जो असंयमी हैं। आचार्य ने देह, कुल और जाति

वन्ध नही माना । वे गुणहीनो को नमन करने के पक्ष मे नही रहे ।[17] उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे दर्शन-विहीन जन अवन्ध[18] बताये है ।

आचार्य की मान्यता थी—कि दर्शन से भ्रष्ट जो पुरुष, सम्यग्दृष्टियो से नमस्कार कराते है वे लूल और गूंगे होते है । बोधि न इन्हे प्राप्त होती है[19] और न उन्हे प्राप्त होता है, जो लज्जा, भय या गौरव के कारण दर्शन-भ्रष्ट साधु की वन्दना करते है ।[20] अतः सुखी होने के लिए दर्शन को धारण करना और दर्शनधारियो को ही नमन करना आवश्यक है ।

जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी

सन्दर्भ-सूची

१. 'काऊण णमुक्कार जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स ।'
दर्शनपाहुड : गाथा प्रथम ।

२. प्राकृत-हिन्दी कोश : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान आई. टी. आई. रोड वाराणसी, ई. १९८७ प्रकाशन ।

२-ब धर्मतीर्थंकरेभ्यऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य. स्वात्मोपलब्धय ॥
जैन शासन का ध्वज, वीर निर्वाण भारती, मेरठ प्रकाशन, पृ० २२ ।

३. देशयामि समीचीन धम कर्मनिबर्हणम् ।
ससारदु.खत: सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥
आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार: श्लोक २ ।

४. 'दसणमूलो धम्मा······'
दर्शनपाहुड : गाथा २ ।

५. 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : भाग २, पृ० ४०५ ।

६. दसई मोक्खमग्ग सम्मत्तसयम सुधम्म च ।
णिग्गथ णाणमय जिणमग्गो दसण भणिय ॥
बोधपाहुड : गाथा १४ ।

७. 'लह दसणम्मि सम्म······'
वही, गाथा १५ ।

८. छह दव्व णव पयत्था पचत्थी सत्त तच्च णिदिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूव सो सदिट्ठि मुणेयव्वो ॥
दर्शनपाहुड . गाथा १९ ।

९ जीवादि सद्दहण सम्मत जिनवरेहि पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत ॥
वही, गाथा २० ।

१०. जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव दुखपात्र ।
यस्मात्क्रिया प्रतिफलान्ति न भावशून्या: ॥
कल्याणमन्दिर स्तोत्र . श्लोक ३८ ।

११. एव जिणपण्णत्त दसण रयण धरेहभावेण ।
दर्शनपाहुड गाथा २१ ।

१२. ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्कइ त य सद्दहण ।
केवलिजिणेहि भणिय सद्दहमाणस्स सम्मत्त ॥
वही, गाथा २२ ।

१३. सारगुण रयणत्तय सोवाण पढम मोक्खस्स ।
वही, गाथा २१ ।

१४. मोक्षमहल की परथम सीढि, या बिन ज्ञान चरित्रा ।
छहढाला . तीसरी ढाल, अन्तिम पद्य ।

१५. दसणभट्टाभट्टा दसणभट्टस्सणत्थिणिव्वाण ।
सिज्झति चरियभट्टा दसणभट्टा ण सिज्झति ॥
दर्शनपाहुड : गाथा ३

१६. णाण णरस्ससार सारोवि णरस्स होइ सम्मत्त ।
सम्मत्ताओ चरण चरणाओ होइ णिव्वाण ॥
वही, गाथा ३१ ।

१७. णाणम्मि दसणम्मि य तवेण चारिएण सम्मसहिएण ।
चोक्कपि समाजोगे सिद्धा जीव ण सन्देहो ॥
वही, गाथा ३२ ।

१८. वही, गाथा ४ ।

१९. सम्मत्त विरहियाण सुट्ठु वि उग्ग तव चरताण ।

ण लहति बोहिलाह अवि वास सहस्सकोडीहिं ॥
वही, गाथा ६।

२० जहमूलम्मिविणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदसण भट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥
वही, गाथा १०।

२१. कल्लाण परम्परगा लहति जीवा विशुद्ध सम्मत्त।
वही, गाथा ३३।

२२. वही, गाथा २६।

२३. वही, गाथा १७।

२४ एक्क जिणस्स रूप वीय उक्किट्ठ सावयाणतु।
अवरीट्ठयाण तइय चउथं पुण लिंग दसणे णच्छि ॥
वही, गाथा १८।

२५. सहजुप्पण्णं रूवं दिट्ठ जो मरणए णमच्छरिऊ।
सो सजम पडपण्णो रूव दट्ठण सील सहियाण ॥
वही, गाथा २४।

२६. वही, गाथा २५।

२७. असंजदं ण वन्द वच्छविहीणोवि सो ण वन्दिव्वो।
णवि देहो वंदिज्जइ णविय कुलो णविय जाइ संजुतो
को वंद्दवि गुणहीणो ···· ॥
वही, गाथा २६-२७।

२८. दसणहीणो ण वंदिव्वो।
वही, गाथा २।

२९ जे दसणेसुभट्टा पाए पाडन्ति दसणधराणा।
ते हुंति लुल्लमूआ वोहि पुण दुल्लहा तेसिं ॥
वही, गाथा १२।

३०. जेवि पडन्ति च तेसि जाणन्त लज्जगारव भयेण।
तेसिंपि णत्थि वोही पाव अणमोअ माणाण ॥
वही, गाथा १३।

(पृ० ८ का शेषांश)

का वर्णन एव जैन धर्म की अधिकतम पारिभाषिक शब्दावली को एक स्थान पर सकलित करने का अनुपम प्रयत्न है। इस कृति के अध्ययन के पश्चात् कोई भी विद्वान् यह स्वीकार करने मे सकोच नही करेंगे कि कायस्थ प्यारेलाल जैन-दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान् थे। इस कृति के लिए समाज को उनका ऋणी होना चाहिए। प्रत्येक दोहे के पूर्व उन्होंने विषय-वस्तु को दर्शाने वाले शीर्षक भी दिये है: सम्पूर्ण कृति का सार सक्षेप मे लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है। उदाहरण के लिए कुछ दोहे प्रस्तुत है—

एक भाग से दूसरा, जिसका काल न होय।
सोई समय सर्वज्ञ ने, कहो ज्ञान दृग जोय ॥

× × ×

हस्तदोय, पगदोय, सिर, मन वच काय मिलाय।
अष्ट अंग संयुक्तकर, नमस्कार जिनराय ॥

चार कषाय—

क्रोध, मान, माया अरु लोभा।
इन जुत जीवन पावहिं भोगा ॥
एही चार कषाय विनाशी,
तिन सुख लहो अतुल अविनाशी।"

कृति के अन्त मे कवि ने २०१ जैन ग्रन्थो की ३६ चिकित्सा सम्बन्धी, १३ शृगार, २६ ज्योतिष, १४ शब्द-कानून, १६० व्याकरण, ८ महाकाव्य, ४ व्याकरण २ अन्य, इस प्रकार ३२० ग्रन्थो की सूची दी है। इस सूची के अध्ययन से यह सहज ज्ञात हो सकता है, कि कितने कितने ग्रन्थ काल कवलित हो गये। कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी की यह बहुमूल्य कृति है, यह उनके महान ज्ञान और श्रम की साक्षी है।

जैन साहित्यकारो मे कविवर भागचन्द जी प्रथम साहित्यकार प्रतीत होते हैं, जिन्हे समकालीन कवियो ने स्मरण किया। जिनका प्रतिबोध पाकर कायस्थ प्यारेलाल जिन-धर्मी हो गये, उनके गुरु कवि एव विद्वान् भागचन्द की प्रतिभा का सहज अनुमान किया जा सकता है।

उनके उपलब्ध साहित्य और अनुपलब्ध साहित्य पर शोध किया जाना वर्तमान युग की अनिवार्यता है।

राहुल स्पोर्टस, गिफ्ट सेन्टर
गुना, (म०प्र०) ४७३००१

दिगम्बर-मुनि

बाबूलाल जैन, कलकत्ते वाले

आगमानुसार छठे-सातवे गुणस्थानवर्ती ही मुनि होते हैं, जिनके कषायों की तीन चौकड़ी अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का तो अभाव हो गया हो और मात्र केवल सज्वलन कषाय का उदय हो। तीन चौकड़ी के अभाव से उतनी वीतरागता अर्थात् निवृत्ति हुई और एक चौकडी के सद्भाव से प्रवृति होती है। वह प्रवृति अट्ठाईस मूलगुणों की लक्ष्मण रेखा को पार नहीं कर सकती है। अगर अट्ठाईस मूल गुणो की मर्यादा का लोप होता है तो फिर एक चौकडी की जगह दो चौकडी का काम चालू हो जाता है और गुणस्थान छठे से पाँचवां हो जाता है, यद्यपि बाहरी भेष नग्न दिगम्बर ही रहता है। यदि एक अन्तर्मुहुर्त में छठे से सातवे मे नहीं जाते है तो भी छठा गुणस्थान मिटकर पांचवां हो जाता है। सातवें मे जाने का अर्थ है निर्विकल्प चेतना का अनुभव होना। किसी प्रवृत्ति को करना और रोकने का नाम छठा-सातवा नही है। रात्रि मे सोते हुए भी मुनि के अन्तर्मुहुर्त मे छठे मे सातवा होना ही चाहिए। उसकी अवस्था आचार्यों ने ऐसी बताई है जैसी उसी मुसाफिर की दशा, जो रात्रि मे स्टेशन पर रत्नो का पिटारा लिए बैठा है और झपकी ले रहा है साथ-साथ में पिटारे पर हाथ रखे है और उसको सम्भालता भी जा रहा है। ऐसे मुनि को आचार्यों ने चलता-फिरता सिद्ध की उपमा दी है। जैसे लुहार की सँडासी क्षण मे आग मे और क्षण मे पानी में होती है, जैसे हिन्डोले मे झूलता हुआ आदमी, जो कभी ऊपर की तरफ जाता है और कभी नीचे की तरफ आता है। ऐसा ही वह दिगम्बर मुनि क्षण मे आत्मानुभव का स्वाद लेता है क्षण मे बाहर आता है तो २८ मूल गुणों मे पांच समिति रूप प्रवृति होती है उसके बाहर प्रवृति होने के लायक कषाय ही नही रही।

जिन लोगो के सम्यकदर्शन नही है और मुनिपना धारण कर लिया है उनके कर्मफल के अलावा और कही ठहरने को जगह नही है, क्योंकि स्वभाव की प्राप्ति तो हुई नही इसलिए एक कर्मफल से हटकर दूसरे कर्मफल में ठहर जाता है परन्तु कर्म-चेतना और कर्मफल चेतना मे ही लगा रहता है। इस प्रकार कर्मफल मे ही लगकर अहम् भाव को प्राप्त करता है, उसी को धर्म मानकर अहकार मे ग्रसित रहता है, जब अहकार को ठेस लगती है तो क्रोध मे पागल हो जाता है और जब अहकार की पुष्टि भक्तो के द्वारा, अखबार मे नई-नई पोज की फोटो के द्वारा, राजनैतिक लोगो के द्वारा अथवा सभा-सोसाइटियो द्वारा होती है, तब अह और गहरा हो जाता है। नही होने पर मायाचारी के द्वारा अह को पुष्ट किया जाता है इस प्रकार कर्म-चेतना मे लगा रहता है। इस प्रकार ज्ञान-चेतना का अनुभव न करके कर्म-चेतना का भोग करता है, जिससे चारो चौकडियो का बध होता रहता है। परिणामो मे सरलता नही रहती--पाखण्ड और मायाचारी जीवन का स्तर बन जाती है। इस प्रकार आप ही अपने जीवन का नारकीय जीवन बना लेता है। गृहस्थ के इतना मायाचार और पाखण्ड तो नही था इसलिए जीवन कदाचित् सरल हो सकता था अन्त में शान्ति का अनुभव कर लेता था। अब तो ऐसा हो गया कि साप के मुह मे छछुन्दर आ गया, न निगला जाता है और न छोड़ा जाता है। कषाय तो मिटी नही— मेटने का उपाय किया भी नही और भेष निष्कषाय का बना लिया, इसलिए वह कषाय बाहर आने के लिए नये-नये बहाने बनाकर बाहर आती है और उसको धर्म का चोला पहनाय कर अपने को ठगा जाता है और साथ-साथ मे समाज और अजान भक्त भी ठगाई मे आ जाते हैं। अनजान भक्तो को सस्ता धर्म मिल गया, जो पैसे से

खरीदा जा सकता है चाहे हमारा आचरण कैसा भी क्यों न हो। पैसे देकर स्वर्ग मोक्ष की टिकट खरीदी जाती है, अनेक प्रकार की उपाधियाँ और मान-पत्र खरीदे जाते हैं। इन सबके पीछे छिपी हुई है हमारी कषाय। अज्ञान भक्त शिथिलाचार को बढावा देते हैं, उनको पुजवाते है, उसको पोषते है और शिथिलाचारी अन्ध-भक्तों का मान कषाय को बढावा देता है। दोनो इसी काम में लगे हुए है कुछ विद्वानों का भी पोषण इनके द्वारा होता रहता है इसलिए वे भी दोनो की हां मे हां मिलाते रहते है।

अगर बिना सम्यकदर्शन के भी मुनिव्रत धारण किया हो और व्रत लेने वाला यह माने कि मैंने मुनिव्रत तो लिया है परन्तु जब तक सम्यकदर्शन नही होगा तब तक मेरा मोक्ष-मार्ग नहीं होगा, व्रतो में सच्चाई नही आयगी। मुझे सम्यकदर्शन प्राप्त करना है, जिसके बिना द्रव्यलिंगी मुनि को भगवान कुन्दकुन्द ने संसार-तत्त्व कहा है। जो मुनि २८ मूल गुणों का अच्छी तरह पालन करे, शरीर से चमडा भी खैंचकर उतारा जावे, तो भी मुह से आह न बोले फिर भी सम्यकदर्शन के बिना उसे संसार-तत्त्व कहा है। वहां उन शिथिलाचारियों को तो कोई स्थान ही नही है, जो परिग्रह रखते है—सावद्य कर्मों में लगे हुए है और २८ मुल गुणों का दिखावा मात्र करते है। अत: सम्यक-दर्शन प्राप्त करने की चेष्टा निरन्तर रखे ऐसा व्यक्ति भद्र-परिणामी के बाहरी क्रियाऐं कदाचित अहंकार पैदा न भी करे और परिणाम सरल रह सकते है। परन्तु जिन्होने बिना सम्यकदर्शन के अपने को सम्यकदृष्टि मान लिया और अपने को पुजवाना ही धर्म मान लिया, उनके अहंकार का कौन रोके। इतना भी विचार नही रहता है कि यह भगवान आदिनाथ का भेष मैंने धारण किया है, और पिच्छि रूप मे आदिनाथ के चिह्न को हाथ मे लिया है, मेरे रहते इस भेष की, इस चिह्न की मर्यादा भंग न हो जावे अन्यथा मेरा जीवन ही बेकार है। परन्तु उस भेष को और उनके चिह्न को भी अपनी कषाय पोषण का दांव पर लगा देता है। यह कैसी कषाय है? ऐसी कषाय तो किसी शत्रु के भी न हो।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय-णिद्दोसा।
णिम्मम-णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

जो परिग्रह रहित है, आसक्ति रहित है, मान रहित है, आशा रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममत्व रहित है और अहंकार रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार-णिक्कलुसा।
णिब्भय-णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

जो स्नेह रहित है, लोभ रहित है, मोह रहित है, विकार रहित है, कालिमा रहित है, भय रहित है, आशा भाव से रहित है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता।
परकिय-णिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

जिसमे जन्मे हुए शिशु के समान नग्नरूप रहता है, दोनों भुजाओं को लटका कर ध्यान किया जाता है, अस्त्र-शस्त्र नहीं रखा जाता है, और दूसरे के द्वारा छोडे गये आवास मे रहना होता है, ऐसी शान्त जिन-दीक्षा कही गई है।

एक चिन्तन :

क्या कभी 'मुनि-धर्म-रक्षा-पर्व' भी होगा ?

□ श्री दिग्दर्शनचरण जैन

'रक्षा-बन्धन' जैसा मुनि-रक्षा-पर्व श्रावण सुदी १५ को होता है। पर, न जाने **'मुनि-धर्म-रक्षा-पर्व'** कब, किस तिथि मे होगा अथवा होगा भी या नही ? कहते है कि 'अहिंसा परमो धर्म.' यह नारा बडा गम्भीर है, इसके भाव और अन्तरंग को समझने और सार्थक करने के लिए इसके मूल तत्त्व को समझना होगा—तब कही यह नारा सार्थक होगा। साथ ही अहिंसा की परिभाषा को भी गहराई मे जाकर मापना होगा। शास्त्रो मे छह काय के जीवों की रक्षा मे तत्परता और रागादि विकारो के निवारण को अहिंसा कहा है। प्राचीन मुनिराज इसी आदर्श को कायम रखते चले आए है।

जब हस्तिनापुर मे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियो पर सकट आया तब मुनि विष्णुकुमार ने अपना पद त्यागकर भी मुनियो के सकट को दूर किया। सौभाग्य से आज ऐसा कोई पापी नही है जो बलि, नमुचि, प्रह्लाद और बृहस्पति जैसे मत्रियो वत् निर्दयी हो और मुनियो पर उपसर्ग करे। आज तो जन-जन मुनिराजो के सरक्षण करने में सावधान है और उन पर तन-मन-धन तक निछावर करने को तैयार है। श्रावकगण एक ही इशारे पर धर्म की परिभाषा बिना विचारे ही मुनियो को सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक सुख-सामग्री जुटाने मे सन्नद्ध है। श्रावको की ऐसी सेवारूप जागरूकता के प्रमाण देने की आवश्यकता नही। मुनिराज के लिए उत्तम पौष्टिक आहार के चौके उनकी शारीरिक सुख-समृद्धि के साधन के प्रमाण है तथा मानसिक सुख-समृद्धि हेतु उनकी पूजा, प्रतिष्ठा, जय-जयकार जीते-जागते सबूत है। इतना ही नही, श्रावक तो उनके भी सुख-साधन जुटाने मे चूक नही करते, जिनकी इन्द्रियाँ वश मे नही हो—वे उन्हे कूलर, हीटर और टेलीविजन जैसे साधन भी जुटा देत हैं कि कही वे कष्ट मे घबराकर पद छोड न दे—भ्रष्ट न हो जायें। ठीक भी है कि श्रावक का कर्तव्य स्थितीकरण है—जैसे भी हो, उनका वह वेष न छूटे। आखिर, मुनि-वेष जीवनपर्यन्त के लिए ही तो स्वीकार किया जाता है, फिर व्यक्ति की रक्षा भी तो अहिंसा ही है। पर,

अहिंसा को हम जैसी और जितनी सोचते है वह वैसी और उतनी ही नही है—उससे भी बहुत ऊपर है। अहिंसा मे यह ध्यान रखना भी परम आवश्यक है कि—वह अहिंसा किस मात्रा मे, कितनी विस्तृत या सकुचित है और उसका कितना और क्या फल है ? या उसका फल कही धर्म-घातक तो नही ? जिस अहिंसा मे धर्मरक्षण की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतनी ही अधिक प्रशस्त होगी। व्यापक-बहुमुखी धर्म-सरक्षण करने वाली अहिंसा प्रशस्त होगी और मात्र शरीर सरक्षण करने वाली अहिंसा एकागी होगी। और धर्म-घातक होने पर तो उसको अहिंसा कहा ही नही जाएगा—वह हिंसा की श्रेणी मे आ पड़ेगी। क्योंकि अहिंसा का लक्षण उसका कार्य और फल सभी धर्मरूप और धर्म.सरक्षण के लिए है।

मुनि विष्णुकुमार ने मुनियो की रक्षा कर आदर्श उपस्थित किया। पर आज उससे भी बडा सकट है—आज केवल मुनि ही नही, मुनि के साथ मुनि-धर्म-रक्षा का प्रश्न भी उपस्थित है। जब आज हमारे बीच मुनि द्वारा बर्ज्य और मुनि के मूल गुणो के घातक मत्र-तंत्र, गण्डा-ताबीज, जादू-टोना, झाड़-फूक करने वाले (मुनि ?) प्रसिद्ध है और वे मोह से भ्रमित (शायद मिथ्यादृष्टि) श्रावको-श्राविकाओ को, (जिन्हे 'मणि-मत्र-तत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई' का ज्ञान नही है) अपने चक्करो मे फँसा रहे है। वे अज्ञानियो को चक्कर मे फँसाने की बजाय—पहिले अपने मत्र-तत्रादि का प्रयोग अपनी स्वय की मुनि-धर्म-रक्षा के लिए कर अपनी सफलता प्रदर्शित कर उत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करे—'मुनि-धर्म-रक्षा' नामक पर्व की स्थापना करे। अन्यथा, मत्र-तत्रादि का प्रयोग छोड़े या पद-मुक्त हो और श्रावकों को धर्म मे जीने दे। जैनधर्म मे सासारिक समृद्धि के लिए मत्र-तत्रादि के प्रयोग को सर्वथा मिथ्यात्व कहा गया है।

समन्वय में अपने को न भूलें

□ श्री विमल प्रसाद जैन

पर्वराज दशलक्षण के उपरान्त आने वाला क्षमावणी पर्व जन-जन के मानस की शुद्धि और धर्म की स्थिरता के लिए होता है। सब भाई-बहिन परस्पर में एक दूसरे के प्रति सरल भाव रखे यही इस पर्व का उद्देश्य है। हमारा दिगम्बर जैन समाज इस पर्व की पूर्ण सार्थकता सदा काल करते रहें---ऐसी हमारी भावना है। साथ ही हम यह भी चाहेंगे कि हम इस क्षमावणी के उपलक्ष्य में किसी भावावेश-वश परस्पर गले मिलने के लिए अपनी भुजाएँ इतनी न फैला दें, कि वे हमारी मान्यताओं का उल्लघन ही कर जायँ---अपनी मान्यताएँ तो हमे सभी भाँति सुरक्षित ही रखनी हैं।

हमे खेद होता है जब कोई कर्णधार या कोई दि० जैन समिति---जैसी दिगम्बर सस्था परस्पर मिलन-प्रदर्शन के किसी प्रसग मे अपनी मान्यताओ को तिलांजलि तक दे देते हों, जब कि उनका कर्तव्य अपनी धर्म-मान्यताओ की वाड मे रहते हुए मानवता का पालन करना हो। उदाहरण के लिए जैसे---दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका के दिनाक १५ सितम्बर १६८६ के सम्पादकीय मे भ० महावीर के विषय मे लिखा गया है---"चन्द्रकौशिक सर्प डक मारता है। ग्वाला कानों मे कीलें ठोकता है तो गोशालक तेजोलेश्या छोड़ता है किन्तु महावीर के हृदय में उनके प्रति न क्रोध है, न घृणा है और न नफरत!" "पराजित संगमदेव जब जाने लगा तब महावीर की आखो मे आँसू आ गए। उन्होने इसका कारण पूछने पर सगम से कहा---तूने मुझे सुनार की तरह उपसर्गों की अग्नि से तपाकर तेजस्वी बनाया, निर्मल बनाया, मेरी आत्मा कर्मों से हल्की हो गई।"

पाठक देखें कि क्या दि० मान्यता ऐसी है? वहाँ न तो महावीर के कानो मे कीलें ठोकी गईं और ना ही कोई तेजोलेश्या छोड़ी गई और न महावीर की आँखों में कभी आँसू आए। यह सम्भव ही नहीं कि उत्तम-संहनन, धीर-स्वभावी महावीर के कभी आँसू आएँ या उनके कानों में कीलें ठुक सके।

ऐसे ही इससे पहिले इसी प्रकार का एक लेख भा० दि० जैन परिषद के प्रमुख पत्र 'वीर' के २२ मई १६८६ के अंक मे मूर्ति स्थापन एवं प्रतिष्ठा-पचकल्याणकों के विरोध मे प्रकाशित हुआ। जबकि हमारे आगमों मे पंचकल्याणको और मूर्ति-प्रतिष्ठाओ के विधान हैं और हम सभी मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की पूजा करने के अभ्यासी हैं? क्या, ऐसे लेखों से हम मन्दिरो के भी विरोधी न हो जावेंगे? लेख के अश निम्न प्रकार है---

"जब अन्य केवलियो के पचकल्याणक नही होते, फिर मूर्ति का पचकल्याणक करना कहाँ तक युक्ति सगत होगा? क्या मूर्ति के मुख से दिव्यध्वनि निकलती है? फिर मूर्ति का पंचकल्याणक करना किम धर्मशास्त्र तथा सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है? जड़मूर्ति के द्वारा धर्म प्रभावना की जाने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? काल्पनिक पंच-कल्याणक महोत्सव का आयोजन मृग-मरीचिका के पीछे भाग-दौड़ के समान है।"

हमारे लिखने का तात्पर्य किसी से वैर-विरोध नही। हम तो दिगम्बरत्व की रक्षा मे श्रेय समझकर ही सब लिख रहे है। ताकि दिगम्बरत्व की रक्षा के उद्देश्य को लेकर निर्मित भारतवर्षीय सस्थाएँ इस बात का ध्यान रखे कि उनके द्वारा कोई ऐसी बात लिखी या कही न जाए जो दिगम्बर मान्यता को अमान्य हो। इन्हीं सद्-भावनाओं के साथ!

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

गतांक से आगे—

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

□ डा० दरबारीलाल कोठिया

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्याग में इस सल्लेखना का धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमे शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही क्षपक का लक्ष्य रहता है और आत्मा के ध्यान में ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखना को साधक तभी धारण करता है, जब वह अन्तिम अवस्था मे पहुच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्मसामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना के दो भेद

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरह की होती है :—

(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान। सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान मे आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत मे ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के विचार-पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसी से इसे सविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है। पर जिस आराधक की आयु अधिक नही है और शीघ्र मरण होने वाला है, तथा दूसरे संघ मे जाने का समय नही है और न शक्ति है, वह मुनि दूसरी अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके तीन भेद हैं :—(१) निरुद्ध, (२) निरुद्धतर और (३) परमनिरुद्ध।

१. निरुद्ध—दूसरे सघ में जाने की सामर्थ्य पैरों मे न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने सघ में ही रुक जाय तो उस हालत मे मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकार की है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोक में जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषो आदि के द्वारा मरणान्तिक आपत्ति आ जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादि के भीषण उपद्रवो के आने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन मे ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु-शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है।

सामान्य मरण की अपेक्षा समाधिमरण की श्रेष्ठता

आचार्य शिवार्य ने सतरह प्रकार के मरणो का उल्लेख करके उनमे विशिष्ट पाँच[१] तरह के मरणो का वर्णन करते हुए तीन मरणो को प्रशंसनीय एवं श्रेष्ट बतलाया है। वे तीन[२] मरण ये है :—(१) पण्डित-पण्डित-मरण, (२) पण्डितमरण और (३) बालपण्डितमरण।

उक्त मरणो को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है[३] कि चउदहवें गुणस्थानवती अयोगकेवली भगवान का निर्वाण-गमन 'पण्डित-पण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियों का मरण 'पण्डित-मरण' है, देशव्रती श्रावक का मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टि का मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टि का मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणो का

कथन किया गया है वह सब पण्डितमरण का कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरण के भेद है।

समाधिमरण के कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकों की प्रशंसा :

शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशसा की है। वे लिखते हैं :—

'वे मुनि धन्य है, जिन्होने संघ के मध्य में जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताका को फहराया है।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्होने समस्त लाभ पाया है, जिन्होने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधना को संसार मे महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नही कर पाते, उस आराधना को जिन्होने पूर्णरूप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है?'

'वे महानुभाव भी धन्य है, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं।

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते है, वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली है, कृतार्थ है, जो पापकर्मरूपी मैल को छुटाने वाले क्षपकरूपी तीर्थ मे सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते है। अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दन और पूजन मे प्रवृत्त होते है।'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनो से सेवित होने से 'तीर्थ' कहे जाते है और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है, तो तपोगुण की राशि क्षपक को 'तीर्थ' क्यो नही कहा जावेगा? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है, जो तीर्थ-वन्दना का होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालो को पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एव दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुन्य का संचय क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा-वैयावृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गति को प्राप्त होता है।'

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है

अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखना को आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योकि आत्मघात तीव्र क्रोधादि के आवेश मे आकर या अज्ञानता वश शस्त्र-प्रयोग विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओं से किया जाता है, जबकि इन क्रियाओं का और क्रोधादि के आवेश का सल्लेखना मे अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन सम्बन्धी सुयोजना का एक अंग है।

क्या जैनेतर दर्शन में यह सल्लेखना है?

यह सल्लेखना जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनो मे उपलब्ध नही होती। हा, योगसूत्र आदि मे ध्यानार्थ समाधि का विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्त.क्रिया से कोई सम्बन्ध नही है। उसका प्रयोजन सिद्धियो के प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है। वैदिक साहित्य मे वर्णित सोलह सस्कारो मे एक 'अन्त्येष्टि-सस्कार आता है', जिसे ऐहिक जीवन के अन्तिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है' और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-सस्कार' है। इस सस्कार का अन्त.-क्रिया के साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-सस्कार सामाजिको अथवा सामान्य लोगो का किया जाता है, सिद्ध-महात्माओ, सन्यासियो या भिक्षुओं का नहीं, क्योकि उनका परिवार से कोई सम्बन्ध नही रहता और इसीलिए उन्हे अन्त्येष्टि-क्रिया की आवश्यकता नही रहती"। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है'। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्म मे अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओ मे मृत व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओ के लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती है। हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत

कम संकेत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रार्थना नही की जाती[*]। पर जैन सल्लेखना मे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है। लौकिक एषणाओं की उसमे कामना नही होती। इतना यहा ज्ञातव्य है कि निर्णयसिन्धुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दु:खित अर्थात् चौरव्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिए भी सन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतो का उल्लेख किया है[10]। उनमे कहा गया है कि 'सन्यास लेने वाला आतुर अथवा दु:खित यह सकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया, उसे मैं छोड रहा हूं और सब जीवो को अभय-दान देता हूं तथा विचरण करते हुए किसी जीव की हिसा नही करूंगा किन्तु यह कथन सन्यासी के मरणान्त-समय के विधि-विधान को नही बतलाता, केवल सन्यास लेकर आगे की जाने वाली चर्यारूप प्रतिज्ञा का दिग्दर्शन करता है। स्पष्ट है कि यहा सन्यास का वह अर्थ विवक्षित नही है, जो जैन-सल्लेखना का अर्थ है। सन्यास का यहा साधु-दीक्षा कर्मत्याग-सन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ अन्त (मरण) समय मे होने वाली क्रिया-विशेष[11] (कषाय एव काय का कृशीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित सयमादि आत्म-धर्म की रक्षा करना) है। अत. सल्लेखना जैन-दर्शन की एक विशेष देन है, जिसमे पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनाने का लक्ष्य निहित है। इसमे रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होने के कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एव आत्म-सरक्षण का अन्तिम और विचारपूर्ण प्रयत्न है।

(श्रीमती चमेलीबाई स्मृति-रेखाएँ)

सन्दर्भ-सूची

१. पडिद-पडिद-मरण पडिदय बाल-पडिद चेव।
बाल-मरण चउत्थ पचमय बाल-बाल च ॥
—भ० आ०, गा० २६।

२. पडिदपंडिदमरण च पणिद बालपंडिद चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पससति ॥
—भ० आ०, गा० २७।

३. वही, गा० २८, २६, ३०।

४. वही, गा० १६६७-२००५।

५-६. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार, पृ० ०६।

७. वही, पृ० ३०३।

८. वही, पृ० १६३ तथा कमलाकर भट्ट कृत निर्णय-सिन्धु, पृ० ४४७।

६. हिन्दू सस्कार, पृ० ३४६।

१० निर्णयसिन्धु, पृ० ४४७।

११. वैदिक साहित्य मे यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश आदि के रूप में मिलती है। जैसाकि माघ के शिशुपाल वध की टीका मे उद्धृत निम्न पद्य से जाना जाता है—
अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यत।
भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरण प्रविधीयते।
—शिशुपाल वध ४-२३ की टीका

किन्तु जैन सस्कृति मे इस प्रकार की क्रियाओं को मान्यता नही दी गयी। प्रत्युत उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है, जो सम्यक्दर्शन की अवरोधक है। यथा—
आपगासागरस्नानमुच्चय· सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते ॥
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावका० ।१···।

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

□ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	५	ममाणत्तदगणादो	समाणत्तादसणादो ।
८	२०	समानता देखी	समानता नहीं देखी
८	१८	सख्वाओं	सख्याओं
१५	६	द्रव्यगतानन्यापेक्षया	द्रव्यगतानन्तापेक्षया
१८	१	नामिसमीक्ष्यते	नाभिसमीक्ष्यते
२४	१५	२अ+अ१	२अ+अ+१
२५	२०-२१	परन्तु जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा जघन्य अनन्तानन्त से	परन्तु जघन्य अनन्तानन्त से, जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा
२५	२२	अनन्तानन्त से अनन्तानन्तगुणे	अनन्तानन्त से जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा अनन्तानन्त गुणे
३५	१३	बाद एक सूच्यंगुल	बाद साधिक एक सूच्यंगुल [गणित करके देख लें १.४६ सूच्यगुल शेष रहता है न कि पूर्ण एक]
३७	२१	अधस्तन वातवलय का अवस्थान रहता ही है ।	ही नीचे वातवलय का अवस्थान रहता है
३७	२८	ति. प. प. २२५	ति. प. प. ७६५
३७	२६	लड्डु	लड्डे
३८	२६	सामीवे	समीवे — देखो ध. ११।१६
३८	३०	पुत्तीदो	पादिदो — देखो ध. ११।१६
३८	३०	समुग्घादो	समुहदो — देखो ध. ११।१६
३६	१२	और ज्ञान प्रमाण ये दोनों	ज्ञान और प्रमाण ये तीनों
४०	२३	राशि के विषय मे	राशि के प्रमाण के विषय मे
४१	२३	(वरलित)	(विरलित)
४४	१६-२१	प्रमारित कर देने पर अथवा सम्पूर्ण जीवराशि का दूसरा भागरूप विस्तार करके भागायाम क्षेत्र होता है	मिला देने पर सर्व जीवराशि के दूसरे भागप्रमाण चौड़ा तथा $\frac{३}{२}$ भाग प्रमाण आयत (लम्बा) क्षेत्र होता है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	२७-२८	प्रसारित कर देने पर षपूर्ण जीवराशि का तीसरा भागरूप विस्तार जाना जाता है। अनन्तर इन खंडो को	मिला देने पर सर्व जीवराशि के तीसरे भागप्रमाण चौडा और ३/४ भागप्रमाण आयत (लम्बा) क्षेत्र प्राप्त होता है। इसको
४५	८	देने पर चौथा	देने पर प्रत्येक एक पर चौथा
४६	१४-१५	भागहार मे उसी के ………… ………………………… …………एक कम होता है।२४।	भागहार मे वृद्धिस्वरूप सख्या के अवहार (हर) से लब्ध (भजनफल) सख्या-स्थित हर "भागहर से भजनफल की" हानि की स्थिति मे तो रूपाधिक होता है और [भागहार से भजनफल की] वृद्धि की स्थिति मे रूप हीन (एक कम) होता है ॥२॥
४६	१८	(२) $\frac{१}{१+\frac{१}{२}} = \frac{३}{२}$	(२) $\frac{१}{१-\frac{१}{३}} \quad \frac{३}{२}$
४६	२०	हानि और वृद्धि मे भागहार	दोनो लब्धो की जोड़ अथवा बाकी को बताने के लिए: मूल भाज्य का भागहार
४७	६	१० वृद्धिरूप	१० = (६+४) वृद्धिरूप
४७	१४	भाज्यमान राशि मे	हीन भज्यमान राशि में
४७	१८	४+३६=४०	४; ४+३६=४०
४७	२०	गुणित करने पर	अपहृत करने पर [देखो प्रस्ता० पत्र ५३]
५१	१५	क—ब (मिथ्यादृष्टि)	क—अ (मिथ्यादृष्टि)
५२	२८	द्विगुणित	त्रिगुणित
५२	३०	ध्रुवराशि का प्रमाण १६-१/३	ध्रुवराशि (१६-१/३ प्रमाण गुणकार
५३	२३	उद्वर्तित	अपवर्तित
५४	२७	उद्वर्तित	अपवर्तित
५५	२८	का उपरिमवर्ग ६५५१६;	का उपरिमवर्ग ६५५३६;
५५	२६	$\frac{६५५१६}{१} \div \frac{६५५१६}{१३}$	$\frac{६५५३६}{१} \div \frac{६५५३६}{१३}$
५६	३	अतिमभागहारेण	अतिमभागहारछेदणएहि
५६	१७	अन्तिमभागहार से	अन्तिमभागहार के अर्द्धच्छेदो से
५८	२६	मध्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
५६	१६	१७×४=६८	१७; १७×४=६८
५६	३०	मध्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
७०	१०	भागहर के	भागहार के
६१	६	२६२१४४;	२६२१४४;२६२१४४ का इच्छित वर्ग= ६८७१९४७६७३६ (पृ० ५६,६० व ६२ को देखो)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	४	पलिदोवमा—	पलिदोवम—
६५	१५	निरन्तर चालू है।	चालू है। [सान्तरमार्गणात्वात् निरन्तर-शब्दस्यौचित्य न प्रतिभाति]
७०	१६	अवहारकाल असख्यात	अवहारकाल भी असख्यात
७४	२१	आवलियों से पल्योपम के	आवलियों का पल्योपम के प्रथमवर्गमूल मे भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे उससे पल्योपम के
७४	२३	असख्यात आवलियाँ ८;	असख्यात आवलियाँ ३२
७४	२४	२५६ × ८ = २०४८ सा०	२५६/३२ = ८; २५६ × ८ = २०४८ सा०
७६	१८	पल्योपम को अवहारकाल से भाजित	पल्योपम के अधस्तन वर्गस्थानों को अवहार काल से केवल भाजित
७८	१३	३२ के त्रिकच्छेद २ $^{32}_{3}$ १	३२ के त्रिकच्छेद ३ $^{32}_{3}$ १
७८	२५	सम्यग्दृष्टि	सम्यग्दृष्टि
८०	१४	परूपणा	प्ररूपणा
८१	२७	२/१ = २ × ३ = ६ — १ = ५	२/१ = २, २ × ३ = ६; ६-१=५; ५ × १६=८०, ८० + ५=८५
८३	२५	१८-१=१७ × १६ =२७२ + ५ = २७७	१८; १८-१=१७; १७ × १६=२७२; २७२ + ५=२७७
८५	१६	भास	भाग
८७	११	घनाघन के	घनाघनपल्य के
८७	३१	सयत सम्बन्धी	सयतसम्बन्धी
८७	३१	सम्यग्ज्ञानियों के द्वारा	सन्दृष्टि की अपेक्षा
८८	१४-१५	सम्यग्ज्ञानियों ने अवलोकन किया है।	सन्दृष्टि की अपेक्षा देखा अर्थात् माना गया है।
९१	२१	तीन सौ	तीन सौ
९१	२७	८-१=७ ÷ २=३½ × ६ =२१ + १७=३८ × ४=३०४	८-१=७; ७ ÷ २=३½; ३½ × ६=२१- २१ + १७=३८; ३८ × ८=३०४
९३	२०	क्षपकजीव	क्षपक व अयोगी जीव
९६	५	दुरहिय—	दुसहिय—
९८	३	एसा बहा	एसा गाहा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९९	१८	हो सकता, क्योंकि	हो सकता, क्योंकि वह (दूषणात्मक कथा) आनाचार्य के मुख से विनिर्गत अर्थात् कहा गया है। तथा क्योंकि
१०४	१५	$९\frac{११}{९३}$	$९\frac{११}{१३}$
१०७	२९	अपनेयमान	अपनीयमान
१०९	३४	$\frac{३२७६८}{३३२९}$ लब्ध	$\frac{२०४९६}{३३२९}$ लब्ध
१११	२५	नुणस्थानों का	गुणस्थानों का
११२	१४	$२\frac{१५३४}{३३२९}+१$	$२\frac{१५३४}{३३२९}$, $२\frac{१५३४}{३३२९}+१$
११२	२३	$१\frac{१५३४}{२५६२}+१$	$१\frac{१५३४}{२५६२}$; $१\frac{१५४४}{२५६२}+१$
११३	१४	$३\frac{२५३}{२५७}+१$	$३\frac{२५३}{२५७}$; $३\frac{२५३}{२५७}+१$
११३	२०	विरलन के प्रति	विरलन के प्रत्येक एक के प्रति
११३	२२	२५६+१	२५६; २५६+१
११८	१७	५१२ × ३२ × १६३८४	५१२ × ३२=१६३८४
११९	१६	सबधी	सम्बन्धी
१२०	१९	असख्यात सम्यग्दृष्टि	असंयत सम्यग्दृष्टि
१२४	२६	कर्म स्थिति की	कर्म आदि की स्थिति की
१२९	१२	असख्यातासख्यात	जघन्य असख्यातासख्यात
१३०	२५	इस बात को	इस मान्यता को
१४२	१४	$२१८४५\frac{१}{६}$	$२१८४५\frac{१}{३}$
१५७	२०-२१	शका—शेष तीन .... प्रतिभाग का प्रमाण क्या है?	शका—उसके [अर्थात् सामान्य असयत सम्यग्दृष्टिराशि के] प्रतिभाग का प्रमाण क्या है?
१६४	१७	कुच्छ	कुछ
१६४	३१	द्रव्यराशियाँ होती हैं।	जीवराशि होती है।
१६५	२३	एक बार लाने की	एक बार मे लाने की
१६६	२१	(अर्थात् दूसरी पृथ्वी के द्रव्य को	(अर्थात् जगच्छ्रेणी से जगच्छ्रेणी को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
		जगच्छ्रेणी से अपनयन करके अर्थात् भाजित करके)	हटा करके, यानी काट करके) "अर्थात् हर मे स्थित जगच्छ्रेणी से अंश में स्थित जगच्छ्रेणी को काट करके" यही सदृश अपनयन का अर्थ है। [नोट—गणित विषयक ऐसी गलतियाँ, थोडी-सी भूल से शीघ्र हो जाया करती हैं।]
१६७	२७	तृतीयमूल—	तृतीयमूलहत—
१६८	चरम पक्ति	बारहवें वर्गमूल से नीचे जाकर	बारहवे वर्गमूल से असंख्यात वर्गस्थान नीचे जाकर, यानी [२] $\frac{१}{असंख्य}$
१६९	४	मवणीए	मवणीदे
१६९	५	पचम	पच
१६९	५	पचम	पंच
१६९	२०	पाँचवी	पांच
१७०	२५	$\frac{३९९४३०४}{९७}$	$\frac{४१९४३०४}{९७}$
१७१	३०	जैसे	वह इस प्रकार है—
१७५	२६	सातो विरलनो के ग्रहण करके भी	सातो ही विरलनो को ग्रहण करके
१७६	२४	$\frac{१०४८५७६}{१२३}=३२$	$\frac{१०४८५७६}{१९३}=३२$
१७८	१७	पृथिक् रूप से मध्य मे स्थापित	पृथक् रूप से मध्य मे स्थापित
१८०	८	भागो-१	भागो-२
१८०	१८	देने पर जगच्छ्रेणी के	देने पर जो आता है वह जगच्छ्रेणी के
१८०	१९	लब्ध आवे वह छठी	लब्ध आवे उतना होता है, और यही छठी
१८०	२५	विरसनो	विरलनो
१८०	२७	४० $\frac{२}{३}$ आते हैं	४२ $\frac{२}{३}$ आते है
१८३	१६	मिथ्यादृष्टि शलाकाओ से	मिथ्यादृष्टि अवहार शलाकाओं से
१८९	२९	एक जोड़ा तब	एक को जोड़ा तब
१९२	१३	शेष रही राशि	शेष रही प्रमाणराशि
१९८	१५	आदेस ससे	आदेश से
२०१	१४	वेदो मे	देवो मे

मनमानी व्याख्याओं का रहस्य क्या है ?

□ पद्मचंद्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

जैनियों की परम्परा मे 'देव-शास्त्र-गुरु' इस क्रम के उच्चारण का प्रचलन रहा है और वीतराग-देव की देशना को आगम, शास्त्र, सिद्धान्त आदि नाम दिए जाते रहे है और गुरु को भी ऐसा आदेश रहा है कि वह जिनवाणी के अनुकूल आचरण करे। इसका भाव ऐसा है कि देव पहले नम्बर पर, आगम दूसरे नम्बर पर और गुरु तीसरे नम्बर पर है। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि समोसरण में वीतराग देव का आसन सर्वोच्च होता है, गुरु का आसन नीचे होता है और बीच मे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रवाहित होकर गुरु तक पहुचती है और इस भांति आगम का स्थान मध्य म ही ठहरता है। अत: 'देव-शास्त्र-गुरु' यही क्रम सुसगत है।

सभी जानते है कि गुरु-चारित्र के प्रतीक है और 'सम्यक् साथ ज्ञान' के बाद ही चारित्र का क्रम आता है और इसी क्रम में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' सूत्र की रचना है। अत: गुरु का क्रम हर हालत मे ज्ञान (आगम) के बाद ही आता है। फिर, आचार्यों ने यह भी कहा है कि **'आगमचक्खू साहू'** अर्थात् साधु की आँखे शास्त्र है। इसका भाव भी यही है कि गुरु से आगम का स्थान पहले है और इसीलिए गुरु (मुनि) की समस्त चर्या आगम के अनुरूप होने जैसा विधान है।

यह बात तो विवादरहित है कि आगम 'आप्तोपज्ञ और अनुल्लघ्य है, क्योकि वह सर्वज्ञ-प्रणीत है—छद्मस्थ-प्रणीत नही है। जब कि सभी आचार्य छद्मस्थ होते है, उनकी वाणी स्वत: प्रामाणिक भी नही मानी गई है - उन्हें सर्वज्ञ की देशना के अनुरूप ही कथन करने का आगम मे विधान है। कुंदकुद जैसे आरातीय आचार्य भी **'चुक्किज्ज'** जैसा शब्द कहकर आगम को गुरु से ऊपर मानने का आदर्श दे गए हैं। फलत:—सभी भांति शास्त्र को मुनि से बड़ा दर्जा दिया गया है और शास्त्र को मूल-ग्रंथ संज्ञा दी गई है। ग्रन्थ इसलिए कि उसमें ज्ञान-रूप जिनवाणी को द्वादशांग रूप में ग्रथित किया गया है—गूंथा गया है—**'गणधर गूंथे बारह सुअंग'**। मूल मे तो वह सर्वज्ञ की ही वाणी है—**'मूलग्रन्थकर्तार: श्री सर्वज्ञदेवा:।'**—अत: जिन वाणी का क्रम वीतरागदेव के बाद का ही क्रम है तथा गुरु का क्रम तीसरा है।

हमे (जैसा कि श्री रतनलाल कटारिया भी कह रहे है) 'अकिंचित्कर' पुस्तक मे पृ० ७०, ७४ तथा 'प्रवचन-पारिजात' पुस्तक द्वितीय सस्करण सन् ८१, पृ० १५,६६, १०८ पर और हाल ही मे जुलाई ८६ की 'बावनगजा सन्देश' नामक पत्रिका, पृ० ९ पर प्रकाशित 'शान्ति का मार्ग शास्त्रो मे' शीर्षक ने 'देवगुरुशास्त्र' जैसा क्रम देखकर आश्चर्य और खेद हुआ कि जहाँ शान्तिका मार्ग शास्त्रो मे बताया जा रहा है वही शास्त्र को गुरु के बाद स्मरण किया जा रहा है। ऐसे मे शीर्षक होना चाहिए था—'शान्ति का मार्ग गुरुओं मे'। भले ही यह बाद को सोचना रह जाता कि कौन से गुरुओं से ? वर्तमान के या भूत के ? कही यह कोई योजनाबद्ध प्रक्रिया तो नही—जिसका विरोध श्री कटारिया जी और जैन-सन्देश के सम्पादक डा० देवेन्द्रकुमार जैन भी कर रहे है ? कही शास्त्रो को गुरुवाणी सिद्ध करने के लिए तो यह सब नही किया जा रहा ? शास्त्रों के मूल शब्दरूपो को बदलने की क्रिया तो पहले एक विद्वान् कर ही चुके है—हालाकि उसका जमकर विरोध हुआ और चोटी के विद्वानो ने भी विरोध प्रदर्शित किया और कर रहे है। इसके सिवाय कई जगह आगमो की कई व्याख्याएं परपरित व्याख्याओं मे विपरीत यद्वा-तद्वा रूप में करने की परिपाटी चल पड़ी है और स्वतन्त्र रूप म आगम-विरुद्ध लेखन भी हो रहे हैं।

हमें यह भी सन्देह है कि कहीं कुछ लोग स्व-प्रतिष्ठा की चाह मे नित नई-नई बातें गढ़कर धर्म-मार्ग का लोप ही न कर दें ? शास्त्र की व्याख्या मे एक वाचक का कहना है कि—'तीर्थंकर की वाणी को गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है, वह शास्त्र कहलाता है।' यानी जैसे, उनकी दृष्टि से लिपिबद्ध काल से पूर्व—जब उस देशना को लिपिबद्ध नही किया गया था, तब शास्त्र ही नही हो ? केवल देव और गुरु ही हो। जब कि आगम, सिद्धान्त, शास्त्र, ग्रथ कुछ भी कहो, जैन मान्यतानुसार ये सभी ज्ञान और दिव्य ध्वनि-रूप मे अनादि विद्यमान रहे है। और तीर्थंकरों द्वारा ध्वनित होते रहे है।

आगम की परिभाषाएँ जो उपलब्ध हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. 'तस्स मुहग्गद वयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्ध। आगममिदि परिकहियं···(नियमसार ८)
२. 'अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।' सुत्त पा०-१
३. 'सुत्तत्थं जिणभणियं'—सुत्तपाहुड ५
४. 'ज सुत्तं जिण उत्तं'— ,, ६
५. 'उवइट्ठ परमजिणवरिंदेहिं' १०
६. 'जिणमग्गे जिणवरिंदेहिं जह भणिय'—बो०पा० २
७. 'केवलिजिणपण्णत्त एयादस अंग सयल सुयणाणं' —भाव पा० ५२
८. 'आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिदियत्थविसओ अचितियसहाओ जुत्ति गोयरादीदो'—धव० पु० ६, पृ० १५१
९. 'आप्त वचनं ह्यागमः'—रत्न०-टी-५
१०. 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य'—रत्नक०
११. 'आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः' —भगवती आरा० विजय २३
१२. 'आप्तवचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः' —परीक्षामु० ३/९९ न्याय दी०, पृ० ११७

अर्थात्—

१. तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित पूर्वापर दोषों से रहित और शुद्ध वचनो को आगम कहा जाता है।
२. अरहत द्वारा कथित, गणधर द्वारा ग्रथित आगम है।
३. सूत्रार्थ (आगम) जिनेन्द्र द्वारा कथित है।
४. जो सूत्र जिनेन्द्र ने कहे हैं, वे आगम है।
५. जो जिनेन्द्र ने कहा है वह आगम है।
६. जिन मार्ग मे जैसा जिनेन्द्र ने कहा है, वह आगम है।
७. केवली जिन मे कहे गये ग्यारह अंग पूर्ण श्रुतज्ञान है।
८. जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिंत्य-स्वभावी है और युक्ति से परे है, उसका नाम आगम है।
९. आप्त के वचन आगम है।
१०. आगम आप्त का कहा हुआ और अनुल्लंघ्य है।
११. रागद्वेष रहित सर्वज्ञ से कहा गया आगम है।
१२. आप्त वचनादि द्वारा निबंधित पदार्थ ज्ञान आगम है।

उक्त लक्षण आगम के है और 'आगमसिद्धान्तः ग्रंथ. शास्त्रम्'—(नाममाला) ये सभी नाम भी आगम के है और आगम परम्परा तथा स्वरूपत. अनादि है। ऐसे मे प्रसिद्ध कर देना कि 'गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है, वह शास्त्र कहलाता है' बड़े महान् साहस की बात है।

स्मरण रहे मूलतः—आगम, सिद्धान्त, ग्रन्थ और शास्त्र (और श्रुत भी) सभी नाम ज्ञानमयी उसी दिव्य-ध्वनि के सूचक है, जिसके मूलकर्ता सर्वज्ञदेव (तीर्थंकर) है—अन्य कोई नही। इस भांति पूरे आगमो का अवतरण तीर्थंकर से ही होता है और पूरा आगम ज्ञानरूप है। फलतः—लिपिबद्ध होने के बाद उसकी संज्ञा 'शास्त्र' होती है यह कथन निःसार और लोगों मे भ्रान्ति उत्पादक है।

चूंकि जनसाधारण गहराई में न जाकर लोकानुकरण करता है और आज आगम के लिए प्रायः 'शास्त्र' शब्द अधिक प्रचलित है। जब लोग जानेंगे कि लिपिबद्ध होने

पर शास्त्र बनता है—तो लिपिरूप में बनाने को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो आते नही, उसे तो गुरुगण ही अकित करते है। फलतः—लोगों की आम धारणा सहज ही बन बैठेगी कि शास्त्र 'गुरुवाणी' हैं। फलतः—वे शास्त्रों को जिन-वाणी के स्थान पर 'गुरुवाणी' प्रसिद्ध कर बैठेंगे और तब योजको की (ईप्सित ?) योजना 'देव-गुरु-शास्त्र' क्रम की सार्थकता भी कारगर हो जायेगी अर्थात् छद्मस्थ गुरुओ को शास्त्र से ऊँचा दर्जा मिल जायगा और प्रचार में आ जायगा कि गुरु बड़े और शास्त्र छोटे है और ऐसा प्रचार मूल आगम को विपरीत सिद्ध करने और जिन-मार्ग के अपवाद मे कारण होगा।

क्या कहें, कहा तक कहे ? हमने तो यहा तक अनुभव किया है कि आज जो गुरु-देशनाएं हो रही है, और लेखन चल रहे है, उनमे कितनों मे ही तो ऐसे तत्त्व निहित हो रहे या निहित किए जा रहे है, जिनसे जिनवाणी का निश्चित ही घात हो रहा है। जैसे—एक सकलन छपा है—'प्रवचन पारिजात' के नाम से। और इसके सस्करण पर संस्करण छप चुके है ओर इसे सभी पढते और सराहते रहे है। सराहना इसलिए कि यह गुरुवाणी है और आज गुरु जो कहे या करे, उसे सच माना जा रहा है। गुरुओं मे कोई-कोई तो गर्हित आचरण करके भी पुज रहे हैं—समय की बलिहारी है। लोगों को सोचना चाहिए कि गुरु छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) होते है, उनकी वाणी अन्यथा भी हो सकती है; आदि।

पहले एक पुस्तक मिली थी—'अकिंचित्कर !' उसमे मिथ्यात्व को बन्ध के प्रति अकिंचित्कर बताया गया था, जबकि मिथ्यात्व ससार का मूल है। अब कहा जा रहा है वह कथन स्थिति और अनुभाग बध को लक्ष्य करके था और कुछ विद्वान् अब भी उसके पोषण मे लगे है—वे अनेकान्त सिद्धान्त की तोड़-मरोड़ में लगे है। हालांकि यह विषय जनसाधारण का नही। वह तो भ्रमित ही होगा कि 'जब मिथ्यात्व से बध ही नही होता तो कुदेवी-कुदेवो की खूब पूजा करो।' आखिर, उनकी दृष्टि मे देवी-देवता सासारिक सुख प्रदाता तो हैं ही—जिसकी लोगो को चाह है। भले ही वे परमार्थ का सुख न दिला सकें। साधारणजन 'अकिंचित्कर' के प्रभाव से 'कुदवागम लिंगिनां प्रणाम विनय चैव न कुर्युः', इस समन्तभद्र के वाक्य से सहज विरक्त होगें, इसमे सदेह नही।

हम समझते है—अपेक्षावाद से अनेको विरुद्ध-धर्म भी सिद्ध किए जा सकते है। यह वाद बडा लचीला है, इसे चाहे जिधर मोड ले जाओ—जैसा कि आज हो रहा है। पर स्मरण रहे कि यह 'वाद' तथ्य उजागर करने हेतु प्रयुक्त होने पर सत्य-वाद है और आगमिक तथ्य को मरोड़ने पर विवाद है। जैसे कि लोग आज तोड-मरोड कर रहे हैं। अस्तु।

हां, हम कह रहे थे 'प्रवचन-पारिजात' की बात। इसमे लिखा है—

"यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे सुख होता तो (सिद्धत्व मे) उनके अभाव करने की क्या आवश्यकता थी, सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इनका अभाव परम अनिवार्य बताया है।" पृ० २४

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मे भी आत्मा के स्वभाव नही है···इनका अभाव भी अनिवार्य आवश्यक है।···जहा उन्होने (उमास्वामी ने) "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" कहा है वही उन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप परिणत, जो भव्यत्वभाव है, उस भव्यत्व पारिणामिकभाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय मे मात्र जीवत्व भाव रह जाता है।"—पृ० २०

प्रसगवश हम यहा कुछ उन अन्य विचारको के प्रति भी संकेत दे दे, जो सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन मे सर्वथाभेद डालकर भ्रमित हो रहे हों और उक्त कारण से वे मोक्ष मे सम्यक्त्व को तो मानते हो और सम्यग्दर्शन को नही मानते हो। इसी प्रसग मे दो शब्द—

कुछ लोगो का भ्रम है कि सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न-२ है। वे कहते है कि—सम्यक्त्व आत्मा का गुण है और सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है तथा गुण स्थायी

है और पर्याय विनाशीक। एतावता मुक्त जीव मे सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव रहता है और वहा सम्यक्त्व गुण शेष रह जाता है—'अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।' ऐसे लोगो को 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्' सूत्र पर चिंतन करना चाहिए कि क्या गुण कभी पर्यायरहित भी हो सकता है? आचार्यों के मत मे तो द्रव्य सदा काल गुण-पर्याय युक्त होता है तथा गुण-पर्याय भी सदा समुदित ही रहते है। ऐसी अवस्था मे यदि उनके कथन के अनुसार मुक्त जीव मे सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव माना जाय तो प्रश्न खड़ा होता है कि यदि मुक्त जीव मे सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय नही है तो वहा कौन-सी पर्याय सम्यग्दर्शन का स्थान ले लेती है? क्योंकि गुण के साथ पर्याय का होना अवश्यम्भावी है। तथा आचार्यों की दृष्टि से गुण और पर्याय सदाकाल द्रव्य के आत्मभूत लक्षण है और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त अर्थात् परिवर्तनशील है। कहा भी है—

'अनाद्यनिधनद्रव्ये स्व-पर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जंति निमज्जंति जलकल्लोलवज्जले॥'

अर्थात् जैसे जल और उसकी कल्लोलरूपी पर्याये अभिन्न हैं—लहरे जल से उत्पन्न होकर जल मे ही लीन होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन-रूप से कथित पर्याय को भी सम्यक्त्व से पृथक् नही माना जा सकता। वास्तव मे तो सम्यक्त्व कहो या सम्यग्दर्शन कहो, दोनो एक ही है—मात्र नाम-भेद है। अतः जहा आचार्य ने मुक्तात्माओं मे सम्यक्त्व की घोषणा कर दी, वहा उन्होंने सम्यग्दर्शन के अस्तित्व की स्वीकृति दे ही दी, ऐसा समझना चाहिए। जो लोग कहते है कि मोक्ष मे सम्यग्दर्शन नही रहता' वे भूल मे है। वस्तुतः वहा रत्नत्रय अभेद रूप मे है और मोक्ष-मार्ग प्रदर्शित करते हुए उसे तीन भेद-रूप में कहा समझा या चिन्तन किया जाता है। क्योंकि वस्तु के समस्त गुण और पर्यायो का युगपत् कथन और हृदयगम करना छद्मस्थ जीव के वश की बात नही।

प्रश्न उठता है कि क्या सम्यक्त्वादि (जिन्हे व्यवहार भाषा मे भेद-रूप व्यवहृत होने से सम्यग्दर्शनादि कह दिया जाता है) आत्मा के स्वभाव नही है? यदि स्वभाव नही है तो मोहनीय कर्म को सर्वघाती और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक क्यो कहा? और क्यो ही उसे संसार-भ्रमण के प्रमुख कारणों मे गिनाया? क्या मोहनीय कर्म आत्मा के जिनगुणो का घात करता था, उस मोहनीय कर्म के क्षय से सिद्धो मे वे गुण उजागर नहीं होते? यदि उजागर नही होते तो मोहनीय कर्म को घातक क्यो कहा, और मोक्ष के लिए उसके क्षय को अनिवार्य क्यो बतलाया? बड़ा आश्चर्य है कि एक ओर तो माना जाय कि भव्यत्व-भाव सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप परिणत होता है (यद्यपि यह कथन आगम-विरुद्ध है) और भव्यत्व के समाप्त होने के साथ ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरित्र को भी समाप्त माना जाय और दूसरी ओर माना जाय कि मोहनीय के क्षय पर आत्मा के सम्यक् और चारित्र गुण प्रकट होते है! यदि भव्यत्व के साथ इनका अभाव मानना ही इष्ट था तो मोहनीय के क्षय का उपदेश ही क्यो दिया होता? इससे तो ससार-दशा ही श्रेष्ठ थी, जहा कम-से कम औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सम्भव थे। स्मरण रहे कि मोहनीय कर्म घातिया कर्म है और वह दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय जैसे दो भेदो मे विभक्त है, उसके क्षय होते ही आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है। भेद इतना है कि जो ससार मे भेदरूप मे अनेक कहे जाते थे, वे मुक्त दशा मे अभेदरूप से विद्यमान है। कहा भी है—'तत्तिय-मइयो णिओ अप्पा।'; 'ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो'। समयसार गाथा ४२८ की तात्पर्यवृत्ति मे आगत 'सम्यक्त्व' शब्द का अर्थ श्री आ० ज्ञानसागर जी ने 'सम्यग्दर्शन' किया है। अतः नामभेद होने पर भी दोनो को एक ही समझना चाहिए। तथाहि—'सम्माइट्ठीः सम्यग्दृष्टिरभेदेन सम्यक्त्वं जीवगुण'—'सम्यग्दृष्टिः जीव के गुणस्वरूप सम्यग्दर्शन को।' यहां इसे जीव का गुण ही कहा गया है। जब सम्यग्दर्शन जीव का स्वभाव है, तो मुक्त-जीव मे इसका अभाव कैसे?

उमास्वामी या अन्य आचार्यों ने न तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे सुख का अभाव बतलाया और ना ही

उन्होंने कहीं भव्यत्व भाव के सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप में परिणत हो जाने जैसा कोई निर्देश ही दिया। भला, जब संसारी जीव में रहने वाला भव्यत्व भाव सर्वथा कर्म आदि से निरपेक्ष और जीव की मौक्तिक योग्यता को इंगित करने मात्र से सम्बन्धित है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों कर्म के उपशम, क्षयोपशम, क्षय की अपेक्षा रखने वाले व जीव की स्व-शक्ति रूप हैं अतः दोनों के एक दूसरे रूप परिणत होने की बात निराधार ठहरती है। क्योंकि दोनों ही भिन्न स्वभावी है—एक व्यक्तत्व की योग्यता-परिचायक रूप है और दूसरे—यानी रत्नत्रय—जीव के स्व-स्वभाव रूप है। एक संसार दशा तक सदाकाल और अवस्थित रहने वाला और दूसरे तीनों शक्ति या व्यक्तित्वरूप में संसार और मुक्त दोनों अवस्थाओं में सदाकाल रहने के स्वभाव वाले है। तथा जीव का त्रिकाली-स्वभाव न होने से भव्यत्व-भाव का अन्त होता है और जीव के स्व-गुण-पर्याय होने से सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) ज्ञान और चारित्र का जीव में त्रिकाल भी (शक्ति अपेक्षा भी) अभाव नहीं होता; हां, संसारी दशा में इनकी कर्म-सापेक्ष सु-रूपता अथवा वि-रूपता अवश्य होती है। ऐसी स्थिति में लिख देना कि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणत जो भव्यत्व भाव है'—पृ० २०, सर्वथा आगम के विरुद्ध है। जबकि भव्यत्वभाव अन्य किसी रूप में भी परिणत नहीं होता।

यहां हमें ब्र० श्री राकेश की वे पंक्तियां भी याद है, जो उन्होंने 'समयसार' द्वितीय संस्करण के प्रारम्भिक 'सम्प्रति' शीर्षक में २५-६-८७ में लिखी है। इनमें वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा का संकेत-सा है कि उनके गुरु-प्रामाणिक है। तथाहि ब्र० जी ने लिखा है—"मैंने कई लोगों से कहते सुना, आचार्य विद्यासागर जी को, कि—'समयसार' यदि भी हिन्दी में पढ़ना है तो आचार्य ज्ञानसागर महाराज की टीका से पढ़ो'—(आदि) फलतः—हम उसी को पढ़ रहे है।

उक्त ग्रन्थ में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति का भाषानुवाद (आ० ज्ञानसागर महाराज कृत) है। पाठकों की जानकारी के लिए हम दोनों को उद्धृत कर रहे है। पाठक देखें कि वहां भव्यत्व-भाव के रत्नत्रय रूप में परिणत होने की बात कही है, या जीव के भावों को रत्नत्रय रूप परिणत होने की बात कही है? हम निर्णय उन्हीं पर छोड़ते है। तथाहि—

तात्पर्यवृत्ति—'यत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं **जीव** सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण **परिणमति**। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयं भण्यते'

—तात्पर्यवृत्ति गाथा ३४३ में

भाषानुवाद—"जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह **जीव** सहजशुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज आत्म-द्रव्य के सम्यक्श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में **परिणमन करता है** उस ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव इन तीन नामों से कहा जाता है।"

समयसार, गाथा ३४३, पृ० ३०३-४

उक्त टीका की पुष्टि अन्य आगमों से भी होती है। सभी में जीव के भावों के रत्नत्रय रूप में परिणत होने की ही पुष्टि की है, न कि भव्यत्वभाव के रत्नत्रयरूप परिणत होने की। जैसे—

१. 'सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्यः'(जीवः)
—सर्वार्थसि २।७

२. 'सम्यग्दर्शनादि पर्यायेण य **आत्मा** भविष्यतीति भव्य' (जीव)
—तत्वार्थरा-२।७।७

३. 'सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे **जीवा** हवंति भवसिद्धा।'
ध० १, पृ० १५०

४. 'मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणस्यतीति भव्यः' (जीव)
— लघीय० अभयवृ० पृ० ६६

अब रह जाती है रत्नत्रय में सुख न होने की बात। सो इस पर हम विशेष न लिखकर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जब सिद्धात्माओं में पूर्ण शुद्ध-ज्ञान का सद्भाव निश्चित है तब उस ज्ञान से उसकी सुखरूप पर्याय को पृथक् कैसे माना जा सकता है? आचार्यों ने सुख को ज्ञान की पर्याय माना है—'**सुखं तु ज्ञानदर्शनयोः पर्यायः तत एव सुखस्यापि क्षयो न भवति।**' –तत्त्वार्थ-वृत्ति, श्रुतसागरी-१०।४, इसे पाठक विचारें कि क्या ज्ञान से उसकी सुखपर्याय पृथक् हो सकती है या क्या रत्नत्रय मे सुख नही है।

निष्कर्ष—

१. आगम-जिनवाणी है, जो गुरु को मार्ग बताती है, इसलिए उसका दर्जा गुरु से ऊपर है और इसलिए 'देवशास्त्र-गुरु' क्रम ठीक है।

'णिच्छित्ती आगमदो, **आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।**'

—प्रव० सार २३२

'आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं पर वियाणादि।।'

—प्रव० सार २३३

२. 'शास्त्र' यह नाम ज्ञान से सम्बन्धित है और उस दिव्यध्वनि से सम्बन्धित है जो बोध देती है। अतः इसे लिपि वर्ण-माला मात्र से नहीं जोड़ा जा सकता और न यह ही कहा जा सकता है—'गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है वह शास्त्र कहलाता है।' एतावता इस युग मे भी शास्त्रकार वीतराग देव ही है इसीलिए—इसे वीतराग वाणी कहते है। तथाहि—"**शिष्यते शिक्ष्यतेऽनेनेति शास्त्र तच्चाविशेषित सामान्येन सर्वमपि मत्याविज्ञानमुच्यते, सर्वेणापिज्ञानेन जन्तुना बोधनात्। अतो विशेषस्थापयितुमाह**—आगमरूपंशास्त्रमागम— **शास्त्रं श्रुतज्ञानमित्यर्थः।**

—अभि० रा० पृ० ६८५

**सासिज्जइ जेण तहि सत्थं ति चाऽविसेसिय नाणं।
आगम एव य सत्थं, आगमसत्य तु सुयणाणं।।**"

—विशेषा० ५५६

३. भव्यत्वभाव रत्नत्रयरूप में परिणत नही होता, अतः भव्यत्व के अभाव होने पर रत्नत्रय का भी अभाव मान लेना मिथ्या है, क्योंकि मुक्तात्मा मे सम्यक्त्व और ज्ञान-गुण सदाकाल ही विद्यमान रहते हैं। इसी प्रसग से ज्ञानदर्शन की पर्याय होने से सुख भी रत्नत्रय मे गर्भित है—ऐसा सिद्ध होता है।

—कलिकालविषैं तपस्वी मृगवत् इधर उधर तैं भयवान होय वन तै नगर के समीप बसैं हैं, यहु महाखेदकारी कार्य भया है। यहाँ नगर समीप ही रहना निषेध्या, तो नगरविषैं रहना तो निषिद्ध भया ही।

—चेला चेली पुस्तकनि करि मूढ़ सन्तुष्ट हो है भ्रान्ति रहित ऐसा ज्ञानी उसे बंध का कारण जानता संता इनकरि लज्जायमान हो है।

—पापकरि मोहित भई है बुद्धि जिनकी ऐसे जे जीव जिनवरनि का लिग धारि पाप करै हैं, ते पापमूर्ति मोक्षमार्ग विषै भ्रष्ट जानने।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० २२२

मुनि-रक्षा परम अहिंसा है

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

जब हम अपरिग्रह और महाव्रतो की बात करते हैं, तब कई साधु (?) समझ लेते है कि हम उनकी चर्चा कर रहे है, चाहे वे अपरिग्रही की श्रेणी मे न आते हों। हम स्पष्ट कर दें कि हमारा उद्देश्य अपरिग्रह और अपरिग्रही की व्याख्या होता है, न कि परिग्रह और परिग्रही की व्याख्या। पाठको को याद होगा कि पिछली बार हम अपरिग्रह को जैन का मूल बता चुके है। अपरिग्रही के कुछ नियम हे, जिनका उसे निर्दोष रूप मे निर्वाह करना होता है। यदि प्रमाद-वश दोष लग जाय तो उसका प्रायश्चित करना होता है। स्मरण रहे कि अनजान मे हुए व्रतघात का नाम दोष है और जानकर किया गया व्रतघात व्रत का खंडित होना है।

अपरिग्रही को अपरिग्रही रहने के लिए सतत रूप मे निरतिचार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य इन पांच महाव्रतों का पालन करना होता है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग इन पाच समितियो का पालन करना होता है। पांचो इन्द्रियो का शमन करना होता है। भावनाओं सहित समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग इन छह आवश्यको का पालन करना होना है। केशलुचन, एक बार आहार, खड़े होकर आहार दातुन और स्नान का त्याग, भूमिशयन, और नग्नता धारण ये अपरिग्रही के २८ कठिन नियम (मूलगुण) होते हैं। उक्त नियमो का पालन खाला जी का घर नही—टेढ़ी खीर है। अपरिग्रही इन नियमो मे दृढ़ रह सके, और आपत्ति आने पर उसे सहन कर सके, इसके लिए उसे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शैय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन परीषहों के जय का अभ्यास करना पड़ता है।

अपरिग्रही व्यक्ति अपरिग्रह व्रत में दृढ़ता और कर्म-कृश करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इन तपों को करता है। और अन्तरग के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह तपों को तपता है। सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र की बढ़वारी करता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य सयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों को पालता है। निरन्तर द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करता है।

अपने को अपरिग्रही घोषित करने वाला कोई व्यक्ति यदि हमसे कहे कि वह अपरिग्रही है, तो हमें क्या ऐतराज ? भला, हम सत्यमहाव्रती का अविश्वास क्यों करे और क्यो ही उस पर कोई आरोप लगाएँ ? हम तो हमारे हम-सफर श्रावकों से ही प्रार्थना कर सकते हैं कि वे अपरिग्रही की सही पहचान के लिए उसमें ऊपर लिखी बातें देख ले। प्रायः देखा गया है कि अधिकांश लोग मात्र नग्नता और पीछी-कमण्डलु को अपरिग्रही की पहचान मान बैठे हैं, जिसका परिणाम सामने है—आए दिनो कतिपय पीछी-कमण्डलु धारकों के विषय मे समाचार-पत्रों मे छपने वाली विसंगत चर्चाएँ। चर्चाएँ यदि तथ्य से परे होती हैं, तो चर्चाओ पर रोक क्यों नही, और यदि सत्य होती हैं, तो सुधार के प्रयत्न क्यों नही ?

हम बहुत दिनों से देव-शास्त्र-गुरु रूप तीन रत्नों की बात कह रहे है। वर्तमान में देव अप्राप्य हैं, शास्त्रों का अस्तित्व खतरो से गुजर रहा है तथा लोगो को तलस्पर्शी ज्ञान भी नहीं है। ऐसे मे केवल आचार (चारित्र) के प्रतीक गुरुगण ही हमारे मार्ग-दर्शक है। यदि हम इनको भी सुरक्षित न रख सके तो धर्म गया ही समझिए, हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपरिग्रहत्व के जगम रूप की

रक्षा में सन्नद्ध हो। ऐसा न हो कि बाड ही खेत को खा बैठे और हम हाथ मलते रहें।

गत दिनो कुछ लोगो से उनकी नीति सम्बन्धी प्रश्न पूछा गया था कि 'वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरुओ के प्रति श्रद्धा-पूर्वक नमन करने के सम्बन्ध मे उनकी क्या नीति है?' प्रश्न बड़ा तर्कसगत और आचरणीय है। हम ऐसे मार्ग-दर्शन की प्रशंसा करते है और अपील करते है कि प्रथम दर्शन में—जब तक उनकी क्रियाओ को स्पष्ट देखा या सुना न हो, सभी निर्ग्रन्थो को वदना व आहारादि जैसे सम्मानों से सम्मानित करना चाहिए। पर, बाद को देख लेना चाहिए कि वे मात्र वेश-धर तो नही—उनका मुनिरूप चारित्र मुनिरूप तो है—जैसा कि ऊपर वर्णित है? कहा भी है, —सम्यग्दृष्टी जीव भी 'सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो।'

हम समझते है कि दीक्षा के समय साधु वैराग्य भाव —साधुता मे होता है। जब श्रावक किसी अपरिग्रही को अपार जनसमूह मे घिरे ऊँचे सिंहासन, स्टेज पर ले जाने, भीड़ द्वारा जय-जयकार करने, समाचार पत्रों मे उसके गुणगान करने, और तिरगे फोटुओ वाले उत्तम पोस्टरों मे उसे अंकित कराने आदि जैसे प्रलोभनो मे फँसाते है, तब निश्चय ही वे उसे पदच्युत कराने के साधन जुटाते है। ऐसे में अपरिग्रही स्वय की पूजा और यश-कामना के जजाल में फँस जाता है—मोहित हो जाता है और पद से गिर जाता है। अत: श्रावको को ऐसे उपक्रमों का त्याग करना चाहिए क्योकि साधुओं को उक्त प्रपचों से बचा लेने मे ही उनके पद की रक्षा है। साधु किसी जन समूह से न घिरे, उसके लिए निर्मित स्टेजो पर न बैठे, फोटुओं के खिचवाने से विराम ले। यदि किसी को धर्म लाभ लेना हो तो वह स्वय साधु के निवास स्थान पर जाय और साधु उसे लम्बे चौडे भाषण न सुना—सूत्ररूप मे हित-मित वचन कहे; आदि। हम तो तब भी आश्चर्य होता है, जब वर्तमान मे साधु-पद-दुर्लभ मानने वाले कतिपय लेखक और सम्पादक समाचारो मे सभी वेष-धारियों को मुनि, आचार्य या उपाध्याय नाम से छापते है। ये तो दुरगी नीति हुई—कथनी और करनी और। हमारी दृष्टि मे तो मुनियो के प्रसगों को पत्र-पत्रिकाओ से दूर रखने से भी साधुपद की रक्षा है। समाचार पत्रो में उनके समाचार आदि उनके अहं को बढ़ाते है।

आज पैसे का जोर है, अधिकांश व्यक्ति और त्यागी भी पैसे की ओर खिचे हुए है। कोई किसी बहाने और कोई किसी बहाने लोगो की जेबे खाली कराने मे लगे है। यश के भूखो को तो यश चाहिए, सो कई पैसे वाले अपना मतलब साधते है, यश कमाते है—साधु के चारित्र से उन्हे क्या लेना-देना? साधु का चाहे शिथिलाचार बढ़े या उसे पापबंध हो; कुछ श्रावको की कायरता तो इतनी बढ़ चुकी है कि वे धर्म-निन्दा के भय से कई वेषधारियो के अनाचारों तक की लीपा-पोती मे लगकर दिगम्बरत्व को लाछित करने को प्रश्रय दे रहे है? उन्हे धर्मनिन्दा का भय है, धर्मलोप की चिन्ता नहीं—जबकि नीति कहती है कि 'सड़े फोडे को काटकर फेक देना चाहिए, ताकि वह नासूर न बने। लोगों से हमारी प्रार्थना है कि पैसे संबंधी समस्त क्रियाएँ दिगम्बरो के करने की नही—वे दिगम्बरों को इधर न घसीटे और स्वय ही धार्मिक उपकरणों की व्यवस्था करे। साधुओं को धार्मिक या तीर्थों-सम्बन्धी चंदो का सकल्प भी वर्ज्य है, सम्पत्ति कब्जा तो महा पाप।

आगे बढ़कर अहिंसा का नारा देने वालो को हम यह भी स्मरण करा दें कि उनका परम कर्त्तव्य है कि वे अपरिग्रहियों के सयमरूपी प्राणो की रक्षा करें। क्योंकि लौकिक दशप्राण तो साधारण के भी होते है। अपरिग्रही का असाधारण—मुख्य प्राण तो सयम है, जिससे उसका महाव्रत कायम रहता है। यदि महाव्रती के सयम का घात होता है, तो उसका महाव्रत मर जाता है और महाव्रती की हिंसा हो जाती है। ऐसे मे जैनियो का 'अहिंसा परमो धर्मः' नारा कैसे सार्थक होता है? जरा सोचिए।

□□

आगमों से चुने : ज्ञान-कण

संकलयिता—श्री शान्तिलाल जैन, कागजी

१. सिद्धान्त मे पाप मिथ्यात्वहीकू कहा है, जहां ताईं मिथ्यात्व है, तहा ताईं शुभ तथा अशुभ सर्वही क्रियाकू अध्यात्मविषै परमार्थकर पाप ही कहिये।

२. सम्यग्दृष्टिकै ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य होना कहा है।

३. मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्र मे प्रथम तो प्रवेश नाही, अर जो प्रवेश करै, तो विपर्यय समझे है।

४ जाका संयोग भया, ताका वियोग अवश्य होयगा। तातै विनाशीकतै प्रीति न करनी।

५ अतीत तो गया ही है, अनागतकी वाञ्छा नाही, वर्तमानकाल विषै राग नाही है, जो न जानै ताविषै राग कैसाहोय ?

६ परद्रव्य, परभाव समारमे भ्रमणके कारण है, तिनतै प्रीति करै, तो ज्ञानी काहे का ?

७. निर्जरा तो आत्मानुभव से होय है।

८ मोक्ष आत्माकै होय है, सो आत्माका स्वभाव ही मोक्ष का कारण होय। तातै ज्ञान आत्माका स्वभाव है। सो ही मोक्षका कारण है।

९. जीव नामा पदार्थ समय है, सो यह जब अपने स्वभाव विषै तिष्ठै, तब तो स्वसमय है। अर परस्वभाव—राग द्वेष, मोहरूप होय तिष्ठै तब परसमय है, ऐसै याकै द्विधापणा आवे है।

१०. काम कहिये विषयनिकी इच्छा, अर भोग कहिये तिनिका भोगना, यहु कथा तो अनतबार सुणी, परिचय मे करी, अनुभव मैं आई, तातै सुलभ है। बहुरि सर्व परद्रव्यनितै भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपनी आतमा की कथा तो स्वयमेव ज्ञान करै। सो ज्ञान याके भया नाही। अर जिनकै याका ज्ञान भया, तिनकी ये उपासना कदे करी नाही। यातै याकी कथा कदे न सुनी, न परिचई, न अनुभव मै आई। तातै याका पावना दुर्लभ भया।

११. आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्ब, सुगुरु का उपदेश, स्वसवेदन, इनि चारि बातनिकरि उपज्या जो अपना ज्ञान का विभव, ताकरि एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप देख्या जाय है।

१२. जो जिणमय पवज्जहु ता मा ववहार णिच्छये मुयहु। एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थ अण्णेण उण तच्च। अर्थ—आचार्य कहे है जो है पुरुष हो तुम जो जिनमतकू प्रवर्त्तावो हो तो व्यवहार अर निश्चय इनि दोऊ नयनिकू मति छोड़ो। जातै एक जो व्यवहारनय ता विना तो तीर्थ कहिये व्यवहारमार्ग ताका नाश होयगा। बहुरि अन्येन कहिये निश्चयनय बिना तत्त्व का नाश होयगा।

१३. वस्तु तो द्रव्य है, सो द्रव्य के निजभाव तो द्रव्य की लार है अर नैमित्तिकभाव का तो अभावही होय।

१४. शुद्धनय की दृष्टिकरि देखीये तो सर्वकर्मनितै रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अतरग विषै आप विराजे है। यहु प्राणी पर्याय बुद्धि—बहिरात्मा याकू बाह्य हेरे है सो बडा अज्ञान है।

१५. सर्व ही लोककै कामभोग सबंधी बधकी कथा तो सुनने मे आई है, परिचय मे आई है, अनुभव मे आई है, तातै सुलभ है। बहुरि यह भिन्न आत्माका एकपणा कबहू श्रवणमें न आया, यातै केवल एक यहही सुलभ नाही है।

१६. कदे आपकूं आप जान्या नाही।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८९

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	शान्तिनाथ-जिन-स्तवन	१
२.	आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके सर्वोदयवादी सिद्धान्त —प्रो० डा० राजाराम जैन	२
३.	वादिराजसूरि के जीवनवृत्त का पुनरीक्षण —डॉ० जयकुमार जैन	६
४.	मुनि घातक कौन ?—श्री बाबूलाल जैन	११
५.	जैन चम्पूकाव्य : एक परिचय —श्रीमती संगीता अग्रवाल	१२
६.	रेल की जैन प्रतिमा—डॉ० प्रदीप शालिग्राम	१४
७.	आर्थिक समस्याओं का हल—अपरिग्रह डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन	१६
८.	Maneka Gandhi Calls For a Ban.............	१९
९.	शुद्धि पत्र—धवला ३—पं० जवाहरलाल शास्त्री	२१
१०.	निर्माणोत्सव : समय की पुकार —पद्मचन्द्र शास्त्री	२४
११.	दिगम्बर साधु की मोर-पिच्छी ? —पद्मचन्द्र शास्त्री	२५
१२.	जरा-सोचिए—संपादक	२९
१३.	नीम हकीम खतरे जान	आवरण २
१४.	आगमों से चुने ज्ञानकण —श्री शान्तीलाल जैन कागजी	आवरण ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सावधान !

नीम हकीम खतरे जान,

नीम हकीम खतरे ईमान

हमारी जैन समाज में कई भारतीय स्तर की संस्थाएँ है जो दिन-रात भारत की राजनैतिक संस्थाओं की तरह जैनों की गरीबी दूर करने पर जोर देती है। इन संस्थाओं के बहुत से नेता जैन समाज को विघटन से बचाने का राग भी अलापते है।

इन नेताओं में बड़े नेताओं सहित, बहुतों को तो जैन धर्म मे वर्णित श्रावक के षट्आवश्यक कर्तव्यों के नाम तक मालूम नहीं है। इनमें अधिकतर नेता रात्रि में भोजन करते है, अनछने जल का प्रयोग करते है और कुछ नेता अबाध गति मे धूम्रपान करते है और कुछ तो उससे आगे भी पहुँच गये है।

ये ही नेता भगवान महावीर के संदेश का प्रचार करते हैं। कभी-कभी बच्चों को धार्मिक शिक्षा हेतु पाठशाला चलाने का आदेश भी देते है। इनका सबसे अधिक जोर सामाजिक संगठन पर रहता है। ये ही लोग गले फाड़ फाड़ कर माइक पर चिल्लाते है कि रात्रि में शादियां न करे। ये दहेज लेना-देना वर्जित बताते है। फिजूलखर्ची न हो ऐसा परामर्श देते है। जैन को जैन से ही सबन्ध करने की सलाह देते है। लेकिन अधिकतर नेताओं का आचरण इन सब बातो के विरुद्ध होता है। ये ही लोग अजैनों से रिश्ता करके गर्व महसूस करते है। रातों में शादी करते है। दहेज अधिक से-अधिक लेते है। कई के यहाँ व्यापार का बहाना लेकर काकटेल पार्टी भी होती हो तब भी आश्चर्य नहीं।

समाज को ऐसे नेताओं से सावधान रहना है। कही ऐसा न हो कि ये नेतागण अपने पद और नेतागीरी को सुरक्षित रखने के चक्कर में हमें हमारे धर्म के मूल स्वरूप से दूर करा दे और आगम सिद्धान्तों के विपरीत चलाकर हमें हमारे धर्म से च्युत न कर दे।

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४२ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८९
वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४६

शान्तिनाथ-जिन-स्तवन

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं,
स्मृतिमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै ।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न—
द्युतिचलमधुपाली चुम्बित पादपद्मम् ।।५।।
स जयति जिनदेवः सर्वविद्विश्वनाथो,
वितथवचनहेतु क्रोधलोभादि मुक्तः ।
शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयमुच्चै—
जनित परमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ।।६।।

अर्थ—देवसमूह के मुकुटों में प्रकाशमान नील रत्नों की कांति जैसी चंचलभ्रमरों की पंक्ति से चुम्बित जिनेन्द्र शान्तिनाथ के चरणकमल, स्मरण करने मात्र से ही लोगों के पापरूप संताप को दूर करते हैं, ऐसे लोक के अधिनायक भगवान शान्तिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें। जो जिन भगवान असत्य-भाषण के कारणीभूत क्रोध एवं लोभ आदि से रहित हैं तथा जिन्होंने मुक्तिपुरी के मार्ग में चलते हुए पथिकजनों के लिए, पाथेय (कलेवा) स्वरूप एवं उत्तम सुख को उत्पन्न करने वाले धर्म का उपदेश दिया है, वह समस्त पदार्थों के जानने वाले तीन लोक के अधिपति जिनदेव जयवन्त होवें।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके सर्वोदयवादी सिद्धान्त

□ प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

विश्व संस्कृति के उन्नायकों में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोच्च है। उसका कारण यह नहीं कि वे किन्हीं भौतिकवादी चमत्कारों के द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित कर अथवा किसी राजनैतिक दल को संगठित कर सभी पर अपना प्रभाव डालते थे। बल्कि उसका मूल कारण यह था कि वे लोकहित में जो भी कहना एवं करना चाहते थे, एक महान वैज्ञानिक की भाँति वे अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का अपने जीवन में ही सर्वप्रथम प्रयोग करते थे और उनकी सत्यता का पूर्ण अनुभव कर बाद में उनका प्रचार करते थे। उनके सिद्धान्त मानव-मात्र तक ही सीमित नहीं थे, अपितु प्राणिमात्र तक विस्तृत थे और उनके आदर्श केवल भारतीय सीमा के घेरे तक ही सीमित नहीं थे बल्कि अखिल विश्व के समस्त प्राणियों के लिए थे अर्थात् उनके सिद्धान्त सार्वजनीन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक थे। ऐसे महान साधक, विचारक एवं उपदेष्टा को आधुनिक भाषा-शैली में लोकनायक अथवा सर्वोदय के महान प्रचारक की संज्ञा प्रदान की जाती है।

प्रस्तुत लघु निबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन वृत्त का ऊहापोह नहीं बल्कि उनके उपदेशों एवं कार्यों का वर्तमान सन्दर्भों में संक्षिप्त मूल्यांकन करना ही प्रधान उद्देश्य है। अत: यहाँ तद्विषयक अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। मेरी दृष्टि से जैन दर्शन के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन के अतिरिक्त भी आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है :—

१. स्वरचित साहित्य में समकालीन लोकप्रिय जन-भाषा (जैन शौरसेनी—प्राकृत) का आजीव प्रयोग,

२. सर्वोदयी संस्कृत का प्रचार, तथा

३. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए प्रयत्न।

समकालीन जनभाषा-प्रयोग

आधुनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के एक समर्थ जनवादी सन्त विचारक एवं लेखक थे। इस कोटि का लेखक बिना किसी वर्गभेद एवं वर्णभेद की भावना के, प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँचने का प्रयत्न करता है और उसके सुख-दुख की जानकारी प्राप्त कर उन्हें जीवन के यथार्थ सुख सन्तोष का रहस्य बतलाना चाहते हैं। यह तथ्य है कि जनता-जनार्दन से घुलने-मिलने के लिए किसी भी प्रकार की साज-सज्जा तथा वैभवपूर्ण आडम्बरों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी तड़क-भड़क से सामान्य जनता उनसे विश्वास पूर्वक घुल-मिल नहीं पाती। इसीलिए लोकहित की दृष्टि से कुन्दकुन्द ने अपने घर का वैभव छोड़ा, गृह-त्याग किया, निर्ग्रन्थ-वेश धारण किया, पद-यात्रा का आजीवन व्रत लिया और सबसे बड़ी प्रतिज्ञा यह की, कि वे सामान्य-जनता के हितार्थ लोकप्रचलित जनभाषा का ही प्रयोग करेंगे, उसी में प्रवचन करेंगे, उसी में बोलेंगे, उसी में सोचेंगे और उसी में लिखेंगे भी। वे कभी भी किसी सीमित दरबारी-भाषा का प्रयोग नहीं करेंगे। इस दृढ़ व्रत का उन्होंने आजीवन पालन किया भी।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय की (अर्थात् आज से दो हजार वर्ष पूर्व की) जनभाषा को भाषा-शास्त्रियों ने "प्राकृत-भाषा" कहा है। कुन्दकुन्द के पूर्व भी प्राकृतों का प्रयोग होता आया था। पूर्व-तीर्थंकरों के साथ-साथ पार्श्वनाथ, महावीर एवं बुद्ध ने अपने-अपने प्रवचनों में जनभाषा-प्राकृत का ही प्रयोग किया था। यही नहीं, प्रियदर्शी सम्राट अशोक ने भी अपने अध्यादेश जनभाषा-प्राकृत में ही प्रसारित किए थे तथा कलिंग-नरेश खारवेल ने भी अपने राज्य-काल का पूरा विवरण जनभाषा-प्राकृत में ही

प्रस्तुत किया था। किन्तु इन सभी की भाषा पूर्वी-भारत मे प्रचलित वह जनभाषा थी, जिसे मागधी एव अर्ध-मागधी के नाम मे अभिहित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द की स्थिति इससे भिन्न है।

आचार्य कुन्दकुन्द पहले समर्थ लेखक एव कवि है, जिन्होंने दक्षिणात्य होते हुए भी उत्तर-भारत मे जन्मी किसी जनभाषा, जिसे कि भाषाशास्त्रियों ने "जैन शौरसेनी-प्राकृत" कहा, का केवल प्रयोग मात्र ही नही किया, अपितु उसमे निर्भीकता पूर्वक बिना किसी सोच-सकोच के धाराप्रवाह विविध विषयक विस्तृत साहित्य का प्रणयन भी किया और उस के सामर्थ्य एव गौरव को द्विगुणित कर उसकी लोकप्रियता मे चार चाँद लगा दिए। उनके साहित्य की विशालता भी इतनी है कि उसकी पूर्ण सूची यहाँ प्रस्तुत कर पाना सम्भव नही। यही कहा जा सकता है कि उनके उपलब्ध एव अनुपलब्ध ग्रन्थो की कुल सख्या सम्भवत २-१/२ दर्जन से भी अधिक है। परवर्ती लेख-आचार्यो के सम्मुख उन्होने इतना सरस एव मर्मस्पर्शी साहित्य लिखकर एक ऐसा विशेष आदर्श उपस्थित किया कि जिससे प्रेरणा लेकर परवर्ती अनेक कवि १०वी, ११वी सदी तक निरन्तर उसी भाषा में साहित्य-प्रणयन करते रहे।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन क्रम मे भाषा वैज्ञानिको ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रजबोली का उद्भव एव विकास "शौरसेनी-प्राकृत" से हुआ है। अतः यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय, तो कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य है, जिनके साहित्य ने आधुनिक ब्रजभाषा एव साहित्य को न केवल भावभूमि प्रदान की, अपितु उसके बहु आयामी अध्ययन के लिए स्रोत भी प्रदान किए। इस दृष्टि से कुन्दकुन्द को हिन्दी-साहित्य, विशेषतया ब्रज-भाषा एव उसके भक्ति-साहित्य-रूपी भव्य-प्रासाद की नीव का ठोस पत्थर माना जाय, तो अत्युक्ति न होगी।

कुन्दकुन्द की दूसरी विशेषता है, उसके द्वारा सर्वोदयी संस्कृति का प्रचार। भारतीय सस्कृति वस्तुतः त्याग की संस्कृति है, भोग की सस्कृति नहीं। वे सिद्धान्तो के प्रदर्शन मे नही बल्कि उन्हे जीवन मे उतारने की आवश्यकता पर बल देते थे। उनके जो भी आदर्श थे, उनका सर्वप्रथम प्रयोग कुन्दकुन्द ने अपने जीवन पर किया और जब वे उसमे खरे उतरते थे, तभी उन्हे सार्वजनीन रूप देते थे। उनके "पाहुड-साहित्य" का यदि गम्भीर विश्लेषण किया जाय, तो उसमे यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनके अहिंसा एव अपरिग्रह सम्बन्धी सिद्धान्त केवल मानव समाज तक ही सीमित न थे, अपितु समस्त प्राणि-जगत पर भी लागू होते है। सर्वोदय का यह स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ ही है। "जिओ और जीने दो" के सिद्धान्त का उन्होने आजीवन प्रचार किया।

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोदयी सस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वह वस्तुत हृदय-परिवर्तन एव आत्म-गुणों के विकास की सस्कृति है। उसका मूल आधार— मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एव माध्यस्थ-भावना ही रही है। यह विचारणीय है कि रुपयो, पैसो, सोना-चाँदी, वैभव, पद-प्रभाव आदि के बल पर अथवा भौतिक-शक्ति के बल पर क्या आत्मगुणो का विकास किया जा सकता है? क्या शारीरिक-सौन्दर्य तथा उच्चकुल एव जाति मे जन्म ले लेने मात्र से ही सद्गुणो का आविर्भाव हो जाता है? सरलता, निश्छलता, दयालुता, परदुःखकातरता, श्रद्धा एव सम्मान की भावना क्या दूकानों पर बिकती है, जो खरीदी जा सके? नहीं। सद्गुण तो यथार्थतः श्रेष्ठगुणी-जनो के ससर्ग से एवं वीतराग-वाणी के अध्ययन से ही आ सकते है। कुन्दकुन्द ने कितना सुन्दर कहा है —

णवि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइ-सजुत्तो।
को वदइ गुणहीणो णहु सवणो णेव सावओ होइ॥दसण० २७

अर्थात् न तो शरीर की वन्दना की जाती है और न कुल की, उच्च जाति की भी वन्दना नही की जाती। गुणहीन की वन्दना कौन करेगा? क्योंकि न तो सद्गुणो के बिना मुनि हो सकता है और न ही श्रावक।

पुनः कुन्दकुन्द कहते हैं :—

सव्वे वि या परिहीणा रूव-विरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसील सुजीविदं माणुस तेहिं॥सील० १८

अर्थात् भले ही कोई हीन जाति का हो, सौन्दर्य विहीन कुरूप हो, विकलांग हो, झुर्रियों से युक्त वृद्धावस्था को भी प्राप्त क्यों न हो? इन विरूपों के होने पर भी यदि वह उत्तमशील का धारक हो तथा उसके मानवीय गुण जीवित हो तब भी उस विरूप का मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ माना गया है।

आत्मगुण के विकास का अर्थ कुन्दकुन्द ने यही माना है कि जिससे व्यक्ति अपना अपने परिवार, समाज एव देश का कल्याण कर सके। यही सार्वकालिक एव सार्वभौमिक सत्य है। सम्राट अशोक तब तक 'प्रियदर्शी" एवं सर्वत: लोकोपचारी न बन सका और तब तक वह भारत माता के गले का हार न बन सका, जब तक उसने कलिंग युद्ध मे सहस्रो सैनिको की हत्या के अपराध के प्रायश्चित मे अपनी तलवार तोड़कर नही फेंक दी और अहिंसक-जीवन व्यतीत नही करने लगा। मोहनदास करमचन्द गांधी, तब तक महात्मा एवं राष्ट्रपति नहीं बन सके, जब तक उन्होंने महर्षि जनक, तीर्थंकर महावीर एव गोतम बुद्ध की भूमि का स्पर्श कर अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह को अपने जीवन मे नही उतार लिया।

जीवन के सन्तुलन एवं सरसता के लिए ज्ञान एव साधना अथवा तप के समन्वय पर कुन्दकुन्द ने विशेष बल दिया क्योकि एक के बिना दूसरा अन्धा एवं लगडा है। पारस्परिक सयमन के लिए एक को दूसरे की महती आवश्यकता है।

कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है :—

तवरहियं जं णाणं णाणविजुतो तवो कि अकयत्थो।
तम्हा णाण तवेण संजुतो लहइ णिव्वाण ।।मोक्ख० ५६

अर्थात् तप रहित ज्ञान एव ज्ञान रहित तप ये दोनो ही निरर्थक है (अर्थात् एक के बिना दूसरा अधा एव लगड़ा है) अत: ज्ञान एव तप से युक्त साधक ही अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

पूर्व-परम्परा प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार की समस्त समाज-विरोधी दुष्प्रवृत्तियो एव अनाचारो को पाँच भागो मे विभक्त किया :—१. हिंसा, २. झूठ, ३. चोरी, ४. कुशील एव ५. परिग्रह। इनका यथाशक्ति त्याग करना ही श्रावकाचार है तथा सर्व देश त्याग करना ही मुनि-आचार। जैनधर्म की यह आचार-व्यवस्था वस्तुत: सर्वोदय का अमर नाम माना जा सकता है क्योंकि उन दोनों मे न केवल मानव के प्रति, अपितु समस्त प्राणि-जगत् के प्रति भी सद्भावना सुरक्षा एवं उसके विकास की प्रक्रिया मे उसके सहयोग की पूर्ण कल्याण कामना निहित रहती है। अत: यदि जैनाचार का मन, वचन एवं काय से निर्दोष पालन होने लगे तो सारा ससार स्वत: ही सुधर जाएगा। कोर्ट-कचहरियो एव थानो की भी आवश्यकता नही रहेगी। उनमे ताले पड जायेगे। पुलिस, सेना, तोप एव तलवारो की भी फिर क्या आवश्यकता?

इण्डियन-पैनल-कोड मे वर्णित अपराध-कर्मों तथा पूर्वोक्त ५ पापों का यदि विधिवत् अध्ययन किया जाए, तो उनमे आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है। उक्त इण्डियन पैनल कोड मे भी पाँच बातों का विभिन्न धाराओ मे वर्गीकरण कर उनके लिए विविध दण्डो की व्यवस्था का वर्णन किया गया है। अन्तर केवल यही है कि एक में प्रायश्चित, साधना, आत्म-सयम तथा आत्म-शुद्धि के द्वारा अपराध-कर्मों से मुक्ति का विधान है, तो दूसरे मे कारागार की सजा, अर्थदण्ड एवं पुलिस की मार-पीट आदि मे अपराध-कर्मों की प्रवृत्ति को छुडाने के प्रयत्न की व्यवस्था है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो स्वस्थ समाज एव कल्याणकारी राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से कुन्दकुन्द द्वारा निर्दशित जैनाचार अथवा सर्वोदय का सिद्धांत आज भी उतना ही प्रासगिक है, जितना कि आज से २००० वर्ष पूर्व। विश्व की विषम समस्याओ का समाधान उसी से सम्भव है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीसरा महत्वपूर्ण कार्य किया राष्ट्रीय अखण्डता एव एकता का। वे स्वय तो दाक्षिणात्य थे। उन्होने वहाँ की किसी भाषा में कुछ लिखा या नही, उसकी निश्चित सूचना नही है। तमिल के पंचम वेद के रूप में प्रसिद्ध "थिरुकुरल" नामक काव्य-ग्रन्थ का लेखन

उन्होंने किया था, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है किन्तु यह मान्यता अभी तक सर्वसम्मत नही हो पाई है। फिर भी, यदि यह मान भी ले कि वह उन्ही की रचना है, तो भी उन्होने बाद मे प्रान्तीय सकीर्णता से ऊपर उठने का निश्चय किया और शूरसेन देश (अथवा मथुरा) के नाम पर प्रसिद्ध शोरसेनी-प्राकृत-भाषा का उन्होंने गहन अध्ययन किया तथा उसी मे उन्होने यावज्जीवन साहित्य की रचना की। उसमे जीवन की यथार्थता का चित्रण, भाषा की सरलता, सहज वर्णन-शैली वव मार्मिक अनुभूतियो से ओत-प्रोत रहने के कारण वह साहित्य इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रान्तीय, भाषाई एव भौगोलिक सीमाएँ स्वतः ही समाप्त हो गइ। सर्वत्र उसका प्रचार हुआ। आज भी पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण कही जाये आचार्य कुन्दकुन्द सभी के अपने है। उनके लिए न दिशाभेद है, न देशभेद है, न भाषाभेद है, न प्रान्तभेद है, न धर्मभेद है और न वर्णभेद ही।

इस प्रकार एक दाक्षिणात्य सन्त कुन्दकुन्द ने अपने केवल एक भाषा-प्रयोग से ही समस्त राष्ट्र को एकबद्ध कर चमत्कृत कर दिया। आधुनिक दृष्टि से भाषा-प्रयाग के माध्यम से राष्ट्र को एकबद्ध बनाए रखने का इससे बड़ा उदाहरण और कहाँ मिलेगा ?

शोरसेनी-प्राकृत के क्षेत्र से यदि कुन्दकुन्द को पृथक् कर दिया जाय तो उसकी उतनी ही क्षति होगी, जितनी कि शोरसेनी-प्राकृत से उत्पन्न ब्रजभाषा के महाकवि सूरदास को पृथक् कर देने पर हिन्दी-साहित्य की क्षति। शोरसेनी-प्राकृत तथा ब्रजभाषा सहित उत्तर भारत की प्रमुख आधुनिक भाषाओं का प्राकृतो से गहरा सम्बन्ध है। अतः हिन्दी-साहित्य विशेषतया ब्रजभाषा के साहित्य को यदि उत्तरोत्तर समृद्ध बनाना है, तो कुन्दकुन्द की भाषा एव साहित्य का अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार करना ही होगा।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की देन के विषय में यहाँ सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किए गए किन्तु उनके अवदानों की यही अन्तिम सीमा नही है। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व तो इतना विराट है कि उसे शब्दो मे गुथ पाना कठिन ही है। अभी तक विद्वानो ने उनका केवल दार्शनिक मूल्याकन ही किया है। किन्तु मेरी दृष्टि से वह भी अपूर्ण ही है क्योंकि विश्व के प्रमुख दर्शनों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन तथा उसमे पारस्परिक आदान-प्रदान की दिशा मे कोई भी विचार नही किया गया जो कि आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द की भाषा का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण, उनके साहित्य का सांस्कृतिक, सामाजिक एव काव्यात्मक मूल्यांकन भी अभी तक नही हो पाया है। इन पक्षों पर जब तक प्रामाणिक अध्ययन नही हो जाता तब तक कुन्दकुन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व से अपरिचित ही रहेगे। श्रमण सस्कृति के महान सवाहक आचार्य कुन्दकुन्द के इस द्विसहस्राब्दि, समारोह के प्रसंग मे यदि उनके सर्वांगीण पक्षो को प्रकाशित किया जा सके, तो उसे इस सदी का भारतीय इतिहास एवं सस्कृति के लिए बहुमूल्य उपहार माना जायगा।

—आचार्य एव अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर सस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह० दा० जैन कालेज, आरा(बिहार)०स०३११

वादिराजसूरि के जीवनवृत्त का पुनरीक्षण

डॉ० जयकुमार जैन

संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार के अनुशीलन से पता चलता है कि भारतवर्ष में सुरभारती के सेवक वादिराज नाम वाले अनेक विद्वान् हुए हैं। इनमें पार्श्वनाथ चरित-यशोधर चरितादि के प्रणेता वादिराजसूरि सुप्रसिद्ध है, जो न्यायविनिश्चय पर विवरण नाम्नी टीका के भी रचयिता है। प्राकृत निबन्ध मे इन्ही वादिराज को विषय बनाया गया है। उनकी सम्पूर्ण कृतियों का भले ही विधिवत् अध्ययन न हो पाया हो, परन्तु उनके सरस एकीभाव स्तोत्र मे धार्मिक समाज, न्यायविनिश्चय विवरण से तार्किक समाज और पार्श्वनाथ चरित-यशोधरचरितादि से साहित्यज्ञ समाज सर्वथा सुपरिचित है। जहा एक ओर उन्हे महान् कवियो मे स्थान प्राप्त है, वहा दूसरी ओर श्रेष्ठ तार्किको की पंक्ति मे भी उत्तम स्थान पाने वाले हैं।

वादिराजसूरि द्राविड संघीय अरुगल शाखा के आचार्य थे।[1] द्राविड सघके अनेक प्राचीन शिलालेखों में द्रविड़, द्रमिड़, द्रविण, द्रविड, द्रमिल, दविल, दरविल आदि नामो से उल्लेख पाया जाता है।[2] ये नामगत भेद कही लेखकों के प्रमादजन्य है तो कही भाषा वैज्ञानिक विकासजन्य। प्राचीनकाल मे चेर, चोल और पाण्ड्य इन तीन देशो के निवासियो को द्राविड़ कहा जाता था। केरल के प्रसिद्ध आचार्य महाकवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर द्राविड़ शब्द का विकास विठाम या विशिष्टता अर्थ के वाचक तमिष शब्द से निम्नलिखित क्रमानुसार मानते हैं—तमिष, मभिल, दमिल, द्रमिल, द्रमिड़, द्रविड़, द्राविड़।[3]

महाकवि वादिराज ने किस जन्मभूमि एवं किस कुल को अलंकृत किया—इस सम्बन्ध में कोई भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। यतः वादिराजसूरि द्राविड़ संघीय थे, अतः उनके दक्षिणात्य होने की सम्भावना की जाती है। द्रविड देश को वर्तमान आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु का कुछ भाग माना जा सकता है। जन्मभूमि, माता-पिता आदि के विषय मे प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी उनकी कृतियो के अनन्य प्रशस्ति पद्यो मे ज्ञात होता है कि वादिराजसूरि के गुरु का नाम श्री मतिसागर और गुरु के गुरु का नाम श्रीपालदेव था।[4]

यशस्तिलक चम्पू के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने वादिराज और वादीभसिंह को सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाते हुए लिखा है कि —"स वादिराजोऽपि श्री सोमदेवाचार्यस्य शिष्यः।" "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः, वादिराजोऽपि मदीय शिष्य" इत्युक्तत्वात्।[5] इसके पूर्व श्रुतसागरसूरि ने "उक्तं च वादिराजेन" कहकर एक पद्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

"कर्मणा कवलितो सोऽजा तत्पुरान्तर जनांगमवाटे।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीव.॥[6]

यह श्लोक वादिराजसूरिकृत किसी भी ग्रन्थ में नही मिलता है और न ही अन्य वादिराजविरचित ग्रन्थो मे ही। सोमदेवसूरि के नाम से उल्लिखित "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य. वादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' वाक्य का उल्लेख भी उनकी किसी भी रचना (यश०, नीतिवा०, अध्यात्मतरंगिणी) मे नही है। अतः वादिराज का सोमदेवाचार्य का शिष्यत्व सर्वथा असगत है। यशस्तिलक चम्पू का रचनाकाल चैत्र शुक्ला त्रयोदशी शक स० ८८१ (९५९ ई०) है[7] जबकि वादिराज के पार्श्वनाथचरित का प्रणयनकाल शक सं० ९३७ (१०२५ ई०) है।[8] इस प्रकार दोनो ग्रन्थों के रचनाकाल का ६६ वर्षो का अन्तर भी दोनो के गुरुशिष्यत्व मे बाधक है।

शाकटायन व्याकरण की टीका "रूपसिद्धि" के रचयिता दयापाल मुनि वादिराज के सतीर्थ (सहाध्यायी या सधर्मा) थे। मल्लिषेण प्रशस्ति मे वादिराज के सतीर्थों में, पुष्पसेन और श्रीविजय का भी नाम आया है।[9] किन्तु इन दोनों का कोई ग्रंथ उपलब्ध नही है। हुम्मुच के इन शिलालेखों मे द्राविड़ सघ की परम्परा इस प्रकार दी गई है—

मौनिदेव
|
विमलचन्द्र भट्टारक
|
कनकसेन वादिराज (हेमसेन)
|
दयापाल — पुष्पसेन — वादिराज — श्रीविजय

पुष्पसेन
|
गुणसेन
|
श्रेयांशदेव — कमलभद्र — अजितसेन (वादीभसिंह) — कुमारसेन[10]

यहा वादिराज के गुरू का नाम कनकसेन वादिराज (हेमसेन) कहा है और अन्यत्र मतिसागर निर्दिष्ट है। इसका समाधान यही हो सकता है कि कदाचित् मतिसागर वादिराज के दीक्षा गुरू थे और कनकसेन वादिराज (हेमसेन) विद्या गुरू। श्री नथूराम प्रेमी का भी यही मन्तव्य है।[11] साध्वी सघमित्रा जी ने वादिराज जी के सतीर्थ का नाम अनेक बार दयालपाल लिखा है।[12] जो सम्भवत: मुद्रण दोष है क्योकि उनके द्वारा प्रदत्त सन्दर्भ मल्लिशेणप्रशस्ति मे भी दयापाल मुनि ही आया है।

वादिराज कवि का मूलनाम था या उपाधि—इस विषय मे पर्याप्त वैमत्य है। श्री नाथूराम प्रेमी की मान्यता है कि उनका मूल नाम कुछ और ही रहा होगा, वादिराज तो उनकी उपाधि है। और कालातर मे वे इस नाम से प्रसिद्ध हो गये।[13] टी० ए० गोपीनाथ राव ने वादिराज का वास्तविक नाम कनकसेन वादिराज माना है।[14] इसका कारण यह हो सकता है कि कीथ, विन्टरनित्ज आदि कुछ पाश्चात्य इतिहासज्ञों ने कनसेन वादिराज कृत २९६ पद्यात्मक एव ४ सर्गात्मक यशोधरचरित नामक काव्य का उल्लेख किया है।[15] किन्तु यह भ्रामक है। विभिन्न शिलालेखों में कनसेन वादिराज और वादिराज का पृथक्-पृथक् उल्लेख है।[16] एक अन्य शिलालेख मे जगदेकमल्ल वादिराज का नाम वर्धमान कहा गया है।[17] वादिराज सूरि द्वारा विरचित एकीभाव स्तोत्र (कल्याणकल्पद्रुम) पर नागेन्द्रसूरि द्वारा विरचित एक टीका उपलब्ध होती है। टीकाकार के प्रारम्भिक प्रतिज्ञा वाक्य मे स्पष्ट रूप से वादिराज का दूसरा नाम वर्धमान कहा गया है—

"श्रीमद्वादिराजापरनामवर्धमानमुनीश्वरविरचितस्य परमाप्तस्तवस्यातिगहनगभीरस्य सुखावबोधार्थं भव्यासुजिघृक्ष,पारतन्त्रैर्ज्ञानभूषणभट्टारकैरूपरुद्धो नागचन्द्रसूरिर्यथाशक्ति छायामात्रमिदं निबन्धनमभिधत्ते।"[18] किन्तु यह टीका अत्यन्त अर्वाचीन है। टीका की एक प्रति झालरापटन के सरस्वती भवन मे है। यह प्रति वि० स० १६७६ (१६१९ ई०) मे फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मण्डलाचार्य यश:कीर्ति के ब्रह्मदास ने वैराठ नगर मे आत्म पठनार्थ लिखी थी।[19]

यत: वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति[20] तथा यशोधरचरित[21] के प्रारम्भ मे अपना नाम वादिराज ही कहा है, अत: जब तक अन्य कोई प्रबल प्रमाण नही मिलता है, तब तक हमे वादिराज ही वास्तविक नाम स्वीकार करना चाहिए।

वादिराज सूरि के समय दक्षिण भारत मे चालुक्य नरेश जयसिंह का शासन था। इनके राज्यकाल की सीमाये १०१६-१०४२ ई० मानी जाती है।[22] महाकवि विल्हण ने चालुक्य वश की उत्पत्ति दैत्यो के नाश के लिए ब्रह्मा की चुलुका (चुल्लू) मे बताई है। उन्होने चालुक्य वश की परम्परा का प्रारम्भ हारीत से करते हुए उनकी वशावली का निर्देश इस प्रकार किया है— मानव्य, तैलप, सत्याश्रय, जयसिंहदेव।[23] जयसिंहदेव के उत्तराधिकारी आहवमल्ल द्वारा अपनी राजधानी कल्याण नगर बसाकर

उसे बनाने का उल्लेख विक्रमांकदेवचरित मे किया गया है।[१४] जिससे स्पष्ट होता है कि उनके पूर्व शासक की राजधानी अन्यत्र थी। पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति मे महाराज जयसिह की राजधानी "कट्टगातीरभूमौ"[१५] कहा गया है। किन्तु दक्षिण में कट्टगा नामक कोई नदी नही है। हाँ, बादामी से लगभग १८-१९ कि० मी० दूर तक कट्टगेरी नामक स्थान जरूर है जो कोई प्राचीन नगर जान पडता है। ऐसा लगता है कि प्रमादवश "कट्टगेरीतिभूमौ" के स्थान पर हस्तलिखित प्रति मे "कट्टगातीरभूमौ" लिखा गया है। कट्टगेरी नामक उक्त स्थान पर चालुक्य विक्रमादित्य (द्वितीय) का एक कन्नड़ी शिलालेख भी मिला है, जिससे स्पष्ट है कि चालुक्य राजाओं का कट्टगेरी स्थान से सम्बन्ध रहा है। यही कट्टगेरी जयसिहदेव की राजधानी होना चाहिए।

पार्श्वनाथचरित के अतिरिक्त न्यायविनिश्चय विवरण एव यशोधरचरित की रचना भी जयसिह की राजधानी मे ही सम्पन्न हुई थी। न्यायविनिश्चय विववरण[१६] मे तो इसका उल्लेख किया ही गया है, यशोधरचरित मे भी जयसिह पद का प्रयोग करके बड़े कौशल के साथ इसकी सूचना दी गई है। यथा—

"व्यातन्वन्जयसिहता रणमुखे दीर्घं दधो धारिणीम्।"
"रणमुखजयसिहो राज्यलक्ष्मी बभार।"[१७]

किसी भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण द्वारा वादिराज का जन्मकाल ज्ञात नही हो सका है। परन्तु यत. उन्होने पार्श्वनाथचरित की रचना शक स० ९४७ कार्तिक शुक्ला तृतीय को की थी[१८], अत: उनका जन्म समय ३०-४० वर्ष मानकर ९८५-९९५ ई० के लगभग माना जा सकता है। पंचवस्ति के ११४७ ई० उत्कीर्ण शिलालेख मे वादिराज को गगवंशीय राजा राजमल्ल (चतुर्थ) सत्यवाक् का गुरू बताया गया है। यह राजा ९७७ ई० मे गद्दी पर बैठा था। समरकेसरी चामुण्डराय इसका मन्त्री था।[१९] अत: वादिराज का समय इससे पूर्व ठहरता है। इन आधारो पर वादिराज का समय ९५०-१०५० ई० के मध्यवर्ती मानने मे कोई असंगति प्रतीत नही होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पार्श्वनाथचरित का प्रणयन सिहचक्रेश्वर चालुक्य चक्रवर्ती जयसिहदेव की राजधानी मे शक सं० ९६४ में लिखा है।[२०] उनका यह कथन पार्श्वनाथचरित के नग=सात वधि=चार और रन्ध्र=नव की विपरित गणना (अकाना वामा गति.) ९४७ शक सं० से विरुद्ध, अतएव असगत है। एक और विचित्र बात देखने मे आई है कि डा० हीरालाल जैन जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् ने भी वादिराज को कही दसवी, कही ग्यारहवी और कही-कही तेरहवी शताब्दी तक पहुंचा दिया है। डा० जैन ने यशोधरचरित का उल्लेख करते हुए १०वी शताब्दी[२१], एकीभाव स्त्रोत के प्रसग मे ११वी शताब्दी, पा० ना० च० के सम्बन्ध मे भी ११वी शताब्दी[२२], तथा न्यायविनिश्चय विवरण टीका के उल्लेख में १३वी शताब्दी[२३] का समय वादिराज के साथ लिखा है। स्पष्ट है कि वादिराजसूरि का तेरहवी शती मे लिखा जाना या तो मुद्रणगत दोष है अथवा डा० जैन ने काल-निर्धारण मे पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति का उपयोग नही किया है तथा पूर्वापरता का ध्यान रखे बिना एक ही व्यक्ति को ११वी से १३वी शताब्दी तक स्थापित करने का विचित्र प्रयास किया है।[२४]

अनेक शिलालेखों तथा अन्यत्र वादिराजसूरि की अतीव प्रशसा की गई है। मल्लिषेण प्रशस्ति मे अनेक पद्य इनकी प्रशसा मे लिखे गये है। यह प्रशस्ति १०५० शक स० (११२८ ई०) मे उत्कीर्ण की गई थी जो पार्श्वनाथ-वस्ति के प्रस्तर स्तम्भ पर अंकित है। यहा वादिराज को महान् कवि, वादी और विजेता के रूप मे स्मरण किया गया है। एक स्थान पर तो उन्हे जिनराज के समान कहा गया है।[२५] इस प्रशस्ति के "सिहसमर्च्यपीठविभव" विशेषण से ज्ञात होता है कि महाराज जयसिह द्वारा उनका आसन पूजित था। इतने कम समय मे इतनी अधिक प्रशसा पाने का सौभाग्य कम ही कवियो अथवा आचार्यों को मिला है।

काव्य पक्ष की अपेक्षा वादिराजसूरि का तार्किक (न्याय) पक्ष अधिक समृद्ध है। आचार्य बलदेव उपाध्याय

की यह उक्ति कि "वादिराज अपनी काव्य प्रतिभा के लिए जितने प्रसिद्ध है उससे कहीं अधिक तार्किक वैदुषी के लिए विश्रुत है।"[36] सर्वथा समीचीन जान पड़ती है। यही कारण है कि एक शिलालेख में वादिराज को विभिन्न दार्शनिकों का एकीभूत प्रतिनिधि कहा गया है—

"सदसि यदकलंक कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः सगताना
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥"[37]

अन्यत्र वादिराजसूरि को षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेकमल्लवादी उपाधियों से विभूषित किया गया है।[38] एकीभाव स्त्रोत के अन्त मे एक पद्य प्राप्त होता है जिसमे वादिराज को समस्त वैयाकरणो, तार्किको एव साहित्यिकों एव भव्यसहायों मे अग्रणी बताया गया है।[39] यशोधरचरित के सुप्रसिद्ध टीकाकार लक्ष्मण ने उन्हे मेदिनीतिलक कवि कहा है।[40] भले ही इन प्रशसा-परक प्रशस्तियों और अन्य उल्लेखो मे अतिशयोक्ति हो पर इसमे सन्देह नहीं कि वे महान् कवि और तार्किक थे।

वादिराजसूरि की अद्यावधि पाच कृतियाँ असदिग्ध है—(१) पार्श्वनाथचरित, (२) यशोधरचरित, (३) एकीभावस्त्रोत, (४) न्यायविनिश्चय विवरण और (५) प्रमाण निर्णय। प्रारम्भिक तीन साहित्यिक एवं अन्तिम दो न्याय-विषयक है। इन पाच कृतियो के अतिरिक्त श्री अगरचन्द नाहटा ने उनकी त्रैलोक्यदीपिका और अध्यात्माष्टक नाम दो कृतियो का और उल्लेख किया है।[41] इनमे अध्यात्माष्टक भा० दि० जैन ग्रथमाला से वि० १९७५ (१९१८ ई०) में प्रकाशित भी हुआ था। श्री परमानन्द शास्त्री इसे वाग्भटालंकार के टीकाकार वादिराज की कृति मानते है।[42] त्रैलोक्यदीपिका नामक कृति उपलब्ध नही है। मल्लिषेण प्रशस्ति के "त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्या-मेवोद्गादिह। जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादि-राजतः॥"[43] मे कदाचित् इसी त्रैलोक्यदीपिका का संकेत किया गया है। श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि सेठ माणिकचन्द जी के ग्रथ रजिस्टर में त्रैलोक्यदीपिका नामक एक अपूर्ण ग्रथ है जिसमे प्रारम्भ के १० और अन्त मे ५८ पृष्ठ के आगे के पन्ने नही है।[44] सम्भव है यही वादिराजकृत त्रैलोक्यदीपिका हो। विद्वद्रत्नमाला में प्रकाशित अपने एक लेख मे प्रेमी जी ने एक सूचीपत्र के आधार पर वादिराजकृत चार ग्रथों—वादमंजरी, धर्म-रत्नाकर, रुक्मणी यशोविजय और अकलकाष्टकटीका का उल्लेख किया है।[45] किन्तु मात्र सूचीपत्र के आधार पर कुछ भी नही कहा जा सकता है।

इस प्रकार वादिराजसूरि के परिचय, कीर्तन एव कृतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वे बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न कवि एव आचार्य थे। वे मध्ययुगीन संस्कृत-साहित्य के अग्रणी प्रतिभू रहे है तथा उन्होने संस्कृत के बहुविध भाण्डार को नवीन भावराशियो का अनुपम उप-हार दिया है। उनके विधिवत् अध्ययन से न केवल जैन साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का गौरव समृद्धतर होगा।

प्रवक्ता संस्कृत विभाग
एस. डी. स्नातकोत्तर कालेज, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

सन्दर्भ-सूची

१. श्रीमद्द्रविडसघेऽस्मिन् नन्दिसघेऽस्त्यरुगल।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारासिपारगैः॥
एत्र गुणिनस्सर्वे वादिराज त्वमेकतः।
तस्यैव गौरव तस्य तुलायामुन्नति. कथम्॥
—जैन शिलालेख सग्रह भाग-२, लेखाक २८८

२. द्रष्टव्य : वही भाग ३ की डा० चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० ३३

३. द्रष्टव्य : श्री गणेशप्रसाद जैन द्वारा लिखित "दक्षिण भारत मे जैन धर्म और सस्कृति" लेख। "श्रमण" वर्ष २१, अक १ नवम्बर १९६९, पृ० १७

४. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य १-४

५. यशस्तिलक चम्पू (सम्पा० : सुन्दरलाल शास्त्री) श्रुतसागरी टीका, द्वितीय आश्वास, पृ० २६५

६. वही, पृ० २६५

७. शकनृपकालातीत सवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयो-दश्याम्……।
—यशस्तिलक चम्पू, पृ० ४८१

८. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५
९. द्रष्टव्य : जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २१३-२१६
१०. वही भाग ३ की डा० गुलाबचन्द चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ३८ से उद्धृत
११. द्रष्टव्य . श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित "वादिराज सूरि" लेख । जैन हितैषी भाग ८, अक ११ पृ० ५११
१२. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य (द्वितीय सस्करण) वादिराज पचानन आचार्य वादिराज (द्वितीय), पृ० ५३०
१३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७८
१४. इन्ट्रोडक्शन टू यशोधरचरित, पृ० ५
१५. सस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ, अनु०—मगलदेव शास्त्री) पृ० १७७ एव जैनिज्म इन दा हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर : एम० विन्टरनित्ज, पृ० १६
१६. जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेखाक ४९३
१७. वही भाग ३, लेखांक ३४७
१८ द्रष्टव्य : सरस्वती भवन, झालरापाटन की हस्तप्रति का प्रारम्भिक प्रतिज्ञावाक्य
१९. वही, अन्त्यप्रशस्ति
२०. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ४ (वादिराजेन कथा निबद्धा)
२१ यशोधरचरित १/६ (तेज श्रीवादिराजेन)
२२. द्रष्टव्य : कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य वश की वंशावली फादर हेरास एव श्री गुजर, विक्रमाकदेवचरित भाग २ (हिन्दू वि० वि० प्रकाशन) परिशिष्ट तथा जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ की डा० चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० ८८
२३. विक्रमांकदेवचरित १/५८-७९
२४. वही, २/१
२५. पार्श्वनाथचरित प्रशस्ति पद्य ५
२६. न्यायविनिश्चय विवरण प्रशस्ति पद्य ५
२७. यशोधरचरित ३/८३ एवं ४/७३
२८. शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने······। पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५
२९. द्रष्टव्य : "एकीभाव स्त्रोत" की परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ४ एवं नाथूराम प्रेमी का "वादिराजसूरि" लेख, जैन हितैषी भाग ८ अंक ११ पृ० ५११
३०. सस्कृत साहित्य, प्रथम भाग, काव्य खण्ड, पंचम परिच्छेद पृ० २४५
३१. भारतीय सस्कृति के विकास मे जैनधर्म का योगदान पृ० १७१
३२. वही, पृ० १२६
३३. वही, पृ० १८८
३४. वही, पृ० ८९
३५. त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोद्गादिह ।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजः ।।
—जैनशिलालेख सग्रह भाग-१
लेखाक ५४, मल्लिषेण प्रशस्ति, पद्य ४०
३६. सस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पचम परिच्छेद, पृ० २१५
३७ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २१५ एव वही भाग ३ लेकांक ३१९
३८. जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेखाक २१३ एव भाग ३ लेखाक ३१५
३९. वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहा
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभाव्यसहायाः ।।
एकीभाव, अन्त्य पद्य
४० वादिराजकवि नौसि मेदिनी तिलकं कविम् ।
यदीय रसनारगे वाणी नर्तनमातनोत् ।।
यशोधरचरित, टीकाकार का मगलाचरण
४१. श्री अगरचन्द्र नाहटा द्वारा लिखित "जैन साहित्य का विकास" लेख । जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण १ जून ४० पृ० २८
४२. एकीभाव स्त्रोत, प्रस्तावना, पृ० १६
४३. जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेखांक ५४, प्रशस्ति पद्य ४०
४४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०४
४५. विद्वद्रत्नमाला मे प्रकाशित हिन्दी लेख का पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ मे संस्कृत में वादिराजसूति का परिचय ।

मुनि घातक कौन ?

❑ बाबूलाल जैन, कलकत्ते वाले

आगम मे यह बताया है कि जिसने मुनिराज को एक ग्रास आहार दान दिया उसने मुनि को मोक्ष दे दी। यह व्यवहार दृष्टि का कथन है। इसी का खुलाशा करते हुए बताया है कि मुनिराज के आहार का विकल्प हुआ—ध्यान से हटे--जब आहार दिया गया तो वह विकल्प टूट गया और मुनिराज ध्यान मे स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। इसलिए वह आहारदान मुनिराज के निर्विकल्प समाधि मे स्थित होने मे परम्परा साधन हुआ अतः ऐसा कथन किया गया है। उसी प्रकार जिस श्रावक ने मुनि को रुपिया-पैसा दिया—परिग्रह दिया-मान-सम्मान की चाह मे सहयोगी हुआ अथवा अनेक प्रकार के विकल्पो के उत्पन्न होने मे सहयोगी हुआ। २८ मूल गुणो के, संयम के घात मे सहयोगी हुआ उसने मुनि को नरक दे दिया। जो मुनि के सयम घात मे सहयोगी होगा चाहे किसी भी रूप में हो वह तीव्र पाप का बन्ध बाधेगा यह निश्चित है।

यह बात इसलिए लिखी जा रही है कि आज समाज मे लोग बिना समझे त्यागियो को सयम की घातक सामग्री देकर यह समझते है कि हम धर्मात्मा है, हमने इस कार्य मे इतना पैसा खर्चा परन्तु उनको यह नही मालूम है कि वे संयम के घात मे निमित्त बने है इससे तो उल्टा पाप का बन्ध ही होगा।

श्रावक निज मे संयम की आराधना नही कर सकता है तब वह जो लोग संयम में लगे है उनके सयम के पालन में सहयोगी बनता है जो कि सयम के प्रति रुचि का कारण है। वह सब तरह से दूसरे संयमधारी के संयम मे सहयोगी होना चाहता है परन्तु सयम के घात मे सहयोगी नही हो सकता। परन्तु आजकल जाने-अनजाने हम लोग सयमी के संयम के घात मे सहयोगी बन जाते है जिससे पुण्य बन्ध तो दूर रहा पाप का बन्ध ही होता है।

त्यागी तो सयमरूपी प्राणो से जीता है वह इस प्राणो से नही जीता अतः जिसने उनके सयम की रक्षा करी उसने मुनि की रक्षा करी और जिसने उनके संयम के घात का उपाय किया उसने मुनि हत्या ही करी। इतना बडा पाप का बन्ध हम अपनी अज्ञानता मे कर रहे है वह भी धर्म के नाम पर।

आजकल मुनिजन पुस्तक छपाने के लिए चदा करते है, मदिर बनाने के लिए चन्दा इकट्ठा करते है अथवा और कोई प्रचार कार्य के लिए चन्दा इकट्ठा करते है। यही काम कोई श्रावक करता तो प्रशसा का पात्र होता परन्तु मुनि अवस्था मे यह कार्य उस पद के लायक नहीं है। किसी भी रूप मे पैसा का सम्बन्ध और पैसे को मागना मुनि के लिए उपयुक्त नही है। आजकल ऐसा समझा जाता है कि मुनि ही रुपिया इकट्ठा कर सकता है इसलिए कई सस्था वाले भी मुनियो के माध्यम से पैसा इकट्ठा करवाते हैं और बदले मे मुनियो को उपाधिया बाँटते है। यह कार्य कहाँ तक उपयुक्त है हमने सयमियो को चन्दा इकट्ठा करने का साधन बनाया है वह चाहे तीर्थ क्षेत्र रक्षा के लिए हो चाहे मन्दिर बनवाने को परन्तु सयमी के लिए उपयुक्त नही है। यह कार्य श्रावक के करने का है।

इसी प्रकार संयमी के तेल मालिश करना वह भी रात को कपडे से शरीर को रगड़वाना, गरिष्ट भोजन देना, उनकी फोटो खिचवाना, नये-नये पोजो को छपवाना, अनेक प्रकार की उपाधियाँ देनी। रात-दिन का भेद नही रखना। रात्रि में चलना-फिरना बोलना। आहार के लिए पैसा इकट्ठा करना शासन देवो को पूजवाना। ये सब बाते तो आजकल दैनिक कार्य हो गया है पूजवाना और इन सब कार्यों मे सहायक है श्रावक, यह कहाँ तक ठीक है ?

मेरा सभी भाई-बहनो से अनुरोध है कि वे कोई ऐसा

(शेष पृ० १२ पर)

जैन चम्पूकाव्य : एक परिचय

□ श्रीमती संगीता अग्रवाल

काव्य के दृश्य व श्रव्य दोनो भेदो मे से श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य व मिश्र तीन भेद है। मिश्र काव्य मे चम्पूकाव्य की गणना की जाती है। कहा गया है कि गद्य पद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते। अर्थात् गद्य व पद्य मिश्रित काव्य चम्पू काव्य कहलाता है। चम्पू काव्यो का परम्परा का श्रीगणेश आठवी शती मे त्रिविक्रमभट्ट के नल चम्पू से होता है। तबसे यह धारा अविच्छिन्न चली और लगभग दो सौ पचास चम्पू काव्यों क सृजन हुआ। चम्पू काव्य परम्परा मे जैन चम्पू काव्यो का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। जैन चम्पू काव्यों मे सोमदेव का "यशस्तिलक" हरिचन्द्र का "जीवन्धर" और अर्हद्दास का "पुरूदेवचम्पू" अति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त दयोदय चम्पू, बर्धमान चम्पू तथा महावीर तीर्थंकर चम्पू भी हैं। वर्तमान में वर्धमान चम्पू की रचना की गई है। इन सबका परिचय प्रस्तुत है—

यशस्तिलक चम्पू के कर्ता आचार्य सोमदेव है जिनका समय ई० की १०वीं शताब्दी तथा रचनाकाल शकसवत ८८१ है। सोमदेव महान तार्किक व अखंड विद्वान थे। वे राजनीति के भी महाज्ञानी थे। यशस्तिलक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे बेद, उपनिषद, रामायण, षड्दर्शनादि के भी अप्रतिम ज्ञाता थे। यशस्तिलक की कथावस्तु हिंसा व अहिंसा के द्वन्द्व की कहानी है। इसमे आठ आश्वास है। प्रथम आश्वास मे कथावतार तथा अन्तिम तीन आश्वास मे जैन श्रावकाचार वर्णित है। मुख्य कथावस्तु तो मध्य के चार आश्वास मे ही हैं।

उज्जयिनी के राजा मारदत्त ने मनुष्य युगल की बलि चण्डमारि देवी के सामने देने का सकल्प किया। इस हेतु लाये गये जोड़े को देखकर उसका मन रुक गया और उसने उनसे बाल्यावस्था मे दीक्षित होने का कारण पूछा—उन्होने अपनी कथा मे बताया कि हिंसा का सकल्प और आटे की मुर्गी मात्र की बलि का विधान करने के कारण किस प्रकार क्रमश: मोर-हिरण-जलजन्तु-बकरी-बकरा-मुर्गा छ योनियो मे भटकना पड़ा। यह सुनकर राजा हिंसा से विरत हुआ और सुदत्त मुनिराज के पास गया। इसी संदर्भ मे सप्तम व अष्टम आश्वास मे विभिन्न व्रतो व विधियो व दोनों का वर्णन है। सुदत्ताचार्य कथित गृहस्थ धर्म को सुनकर दोनो मुनि व आर्यिका का व्रत ग्रहण किया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण जैन चम्पूकाव्य जीवन्धर है जिसके कर्ता महाकवि हरिश्चन्द्र है। हरिश्चन्द्र नोयक वशीय कायस्थ कुल के भाद्रदेव व पत्नी रूपा के पुत्र थे। हरिश्चन्द्र वैष्णव परिवार में पैदा होकर स्वेच्छा से जैन बने।

(पृ० ११ का शेषांश)

कार्य न करें जिससे सयम का घात होत हो, अगर कोई साधु भेषधारी आगम के विरुद्ध कुछ भी चाहे तो उसको ना कह देना यह आगम को मानना है। अगर बाप बीमार हो और डाक्टर ने ठडा पानी मना किया हो और बाप ठडा पानी मागे तो उसके देने वाला गलत है, नही देने वाला सही है। उस बाप की बात नही मानने वाला सही माने मे बेटा है। हमारे लिए आगम ही प्रमाण है वही हमारा डाक्टर है उसमे जिस-जिस काम का निषेध है वह हम नही कर सकते अपने लिए भी और दूसरो के लिए भी चाहे वह कोई भी क्यो न हो। व्यक्ति की प्रमाणता नहीं है प्रमाणता तो उस सर्वज्ञ की वाणी की है वही सर्वोपरि है। तीर्थंकर भी पूज्य तभी होते है जब उस आगम के अनुसार हो। उस आगम की अवहेलना करने वाला न मुनि है न श्रावक है न जैनी है न वह पूजने योग्य है उनको पूजने वाला भी आगम की अवहेलना करने वाला है जिन शासन का घातक है। जैनम् जयत् शासनम् यही सर्वोपरि है। □

इनका समय ११-१२वी शती है। इनकी अन्य कृति धर्मशर्माभ्युदय प्राप्त होती है। जीवन्धर चम्पू की कथा-वस्तु इस प्रकार है—हेमागद देश के राजपुरी नामक नगरी के राजा सत्यन्धर व रानी विजया थी। मन्त्री काष्ठाङ्गर ने छल से राजा को मार दिया। इधर रानी ने मयूर यन्त्र से उड़कर श्मशान मे पुत्र को जन्म दिया जिसे उसने देवी के वचनानुसार गन्धोत्कट वैश्य को दिया। उसने उसका "जीवन्धर" नाम रखा। द्वितीय लम्ब मे शिक्षा का तथा अपनी वीरता से गोपो की गाये छुड़ाकर नन्द गोप की कन्या से अपने मित्र के विवाह का प्रसग है। तृतीय लम्ब मैं श्रीदत्त द्वारा किये गये स्वयंवर मे जीवन्धर ने वीणावादन में गन्धर्वदत्ता को हराकर उससे विवाह किया। चतुर्थ लम्ब मे अपने वीरता व हाथी से गुणमाला को बचाने से जीवन्धर का गुणमाला का विवाह होता है। पच लम्ब मे काष्ठागार द्वारा शूली की सजा दी जाने पर वहाँ से वे यक्ष का स्मरण कर चन्द्राभ नगरी पहुंचे जहाँ सर्प द्वारा डसी हुई पदमा की रक्षा की तथा पदमा से विवाह किया। षष्टम लम्ब मे प्रेमश्री से विवाह का वर्णन है तथा सप्तम लम्ब मे हेमा मथुराधीश राजा दृढामित्र अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह जीवन्धर के साथ करता है। अष्टम लम्ब मे सागरदत्त की पुत्री विमला से विवाह होता है। नवम लम्ब मे सुरमजरी से विवाह किया। दशम लम्ब मे गोविन्द की सहायता से काष्ठागार को मारा और गोविन्द महाराज की पुत्री लक्ष्मणा से विवाह किया है। एकादश लम्ब मे आठो रानियो ने आठ राजपुत्रो को जन्म दिया और उनके साथ जैन मन्दिर म पूजा कर अपने पूर्वभव सुने तथा अन्त मे पुत्र सत्यन्धर को राज्य सौप रानियों सहित दीक्षा ली।

तीसरा चम्पूकाव्य पुरूदेव है। इसके रचयिता महाकवि अर्हद्दास हैं। इनका समय १३-१४वी शती है। इनकी अन्य दो रचनाये और उपलब्ध है—मुनिसुव्रतकाव्य तथा भव्यजनकण्ठाभरण। प्रस्तुत काव्य के कथा नायक भगवान वृषभदेव है। इसमे दस स्तवक है। प्रथम मे अतिवल व मनोहरा के महावल पुत्र हुआ। जिसके राज्य-भार सम्भालने पर उसके मन्त्री स्वयबुद्ध ने सुमेरू पर्वत पर दो ऋषियो से उसका पूर्वभव सुना। प्रथम तीन स्तबको में पुरदेव भगवान आदिनाथ के पूर्वभवों का वर्णन है। शेष स्तबकों मे भगवान आदिनाथ व उनके पुत्र भरत तथा बाहुबली का चरित्र चित्रण है। ग्रन्थ का कथाभाग अत्यन्त रोचक है जिसे कवि की कल्पनाओं ने और भी मर्म स्पर्शी बना दिया है। इसी कारण इस अल्पकाय काव्य मे कवि आदिपुराण का समावेश सफलतापूर्वक कर सके।

दयोदय चम्पू मुनि श्री ज्ञानसागर की रचना है जिनका जन्म १९४८ विक्रम स० है। इन्होने हिन्दी व संस्कृत मे २१ ग्रन्थो की रचना की जिनमे दयोदय भी एक है। दयोदय की कथावस्तु मे कथा के बहाने धर्मोपदेश है। इसमें सात लम्ब है। प्रथम लम्ब मे एक सुन्दर बालक पूर्व जन्म के पापो के कारण सडक पर जूठन खा रहा है जो आगे चलकर गुणपाल सेठ की पुत्री विषा मे विवाह करेगा। तत्पश्चात मृगसेन धीवर एक महाराज के उपदेशनुसार अपने जाल मे प्रथम आने वाली मछली को छोड़ने का व्रत लेता है। द्वितीय लम्ब मे उसे खाली हाथ घर लौटा देखकर उसकी पत्नी कुपित होती है और दोनों सर्प द्वारा डसे जाते है तथा सोमदत्त व विषा बनकर पैदा होते है। तृतीय लम्ब मे गुणपाल सेठ सोमदत्त को अपनी पुत्री का भर्ता सुनकर मारने की कोशिश करता है परन्तु उसे एक ग्वाला उठाकर ले जाता है तथा पालता है। चतुर्थ लम्ब मे भी शंकित गुणपाल सोमदत्त को मारने की कोशिश करता है परन्तु भाग्यवश वहाँ भी उसका विषा के साथ विवाह हो जाता है। पचम लम्ब मे पुनः वह उसे अपने पुत्र महाबल द्वारा मरवाना चाहता है और उल्टे महाबल ही मारा जाता है। सोमदत्त पुनः बच जाता है। षष्टम लम्ब मे गुणपाल की पत्नी उसे मारने की कोशिश करती है वहाँ भी गुणपाल मारा जाता है। पश्चताप करती हुई वह स्वय भी मर जाती है। सप्तम लम्ब मे महाराजा वृषभदत्त सोमदत्त की विनयशीलता से प्रभावित हो अपनी पुत्री गुणमाला का भी उसी से विवाह कर देता है। एक दिन सोमदत्त एक मुनिराज को आहार देता है और उनके उपदेशो स प्रभावित हो दीक्षा ग्रहण करता है और विषा व वसन्तसेन भी आर्यिका व्रत लेती है।

पाँचवां चम्पूकाव्य "महावीर तीर्थंकर" है जिसके

(शेष पृ० १५ पर)

रेल की जैन प्रतिमा

□ डॉ० प्रदीप शालिग्राम

महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिले में अकोला से २० कि० मी० दूर चोहाटा के पास 'रेल' नामक एक छोटा-सा कस्बा है। यहाँ पर उंगलियो पर गिनने लायक दि० जैन परिवार बसे हैं। अधिकाश परिवारो मे पीतल की बनी आधुनिक मूर्तियां पूजा मे है। लेकिन श्री शंकरराव फुलबरकार के घर एक सफेद सगमरमर की बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति बरबस ही ध्यान खीच लेती है। यह मूर्ति उनके मन्दिर कोष्ठ मे है तथा रोज पूजी जाती है। शोधकर्ता किसी व्यक्तिगत कार्य से रेल गया था तब यह मूर्ति देखने का सुअवसर मिला। लेखक फुलबरकार जी का कृतज्ञ है जिन्होने कुछ मिनट मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर दिया।

सफेद संगमरमर की बनी २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पद्मासन मुद्रा मे बैठी यह अत्यन्त आकर्षक प्रतिमा है। यह ८" लम्बे तथा एक इच मोटे पादपीठ पर बनी है। पादपीठ सहित मूर्ति की ऊँचाई बारह इच याने एक फीट है। इसमे पार्श्वनाथ के सिर पर दो इंच ऊँचे सात सर्पफणो का छत्र भी सम्मिलित है। पादपीठ का आकार त्रिकोण है।

पार्श्वनाथ के सिर पर भगवान बुद्ध के उष्णीष की भाति तीन घुघराले केशो की लटें मात्र हैं। शेष भाग केश रहित या मुण्डित है जिस पर सर्पफण अवशिष्ट है। कान कधे पर लटक रहे है। आँखें अधखुली है तथा भौहें लम्बी है। ओठ किंचित मोटे तथा नासाग्र सीधा है। ग्रीवा तथा पेट का हिस्सा समतल है किन्तु सीना थोड़ा बाहर निकला प्रतीत होता है जिसके मध्य मे श्रीवत्स चिह्न अकित है। स्तनो के घुंडियो की जगह बारीक छिद्र मात्र दृष्टिगोचर होते है। नाभि को अर्धचन्द्राकार रूप मे प्रदर्शित किया गया है। इसके नीचे तीन चौकोर पद्मको का अंकन है। सम्भवत: अधोवस्त्र को बाधने के लिए मेखला के रूप में इसे प्रयुक्त किया गया हो। लेकिन प्रतिमा में वस्त्र के कही भी लक्षण नही हैं। इसके सामने ही बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा है जिनकी चारों उगलियां स्पष्ट दिखाई देती है जो अगुष्ठ से जुड़ी हुई है।

मूर्ति को धोते समय जल सग्रहन की सुविधा हो इसलिए कमर के चारो ओर खाचा नुमा परिखा बनाई गई है। जिससे पानी मूर्ति के पीछे न बहे। इतना ही नही नाभि के नीचे जो स्थान बना है उससे पानी बाहर निकलने के लिए एक छिद्र बनाया गया है जो सहजता से दृष्टिगोचर नही होता।

पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण का छत्र प्रदर्शित किया गया है जिसमे वह ध्यान मुद्रा मे विराजमान है। प्रत्येक फन पर दोनो ओर दो-दो वर्तुलाकार आखे उत्कीर्ण की गई है। सिर पर धरे सातों सर्प फन पीछे से भी सिर पर सात खाचाओ से अकित है जो गर्दन तक पहुचकर एक मे विलीन हो जाते हैं। इतना ही नही रीढ़ की हड्डी के साथ इसे एकाकार कर कमर के नीचे तक पहुचाया गया है। मूर्ति का पिछला हिस्सा नाग शरीर के सिवा समतल है। इस प्रतिमा मे शासन देवी तथा यक्ष आदि की अनुपस्थिति महत्त्वपूर्ण है.

पादपीठ की विशेषता यह है कि इस पर दो पक्तियों में लेख विद्यमान है जो अधिकाश घिस गया है। लेखक का अधिक समय तक मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर नही दिया जिससे उसे आसानी से पढ़ा जा सकता हो। फिर भी लिपी नागरी मिश्रित अक्षरों की है और १८वी शताब्दी की तो निश्चित ही है। और यही इस प्रतिमा का समय भी है। प्रथम पंक्ति मे कुछ शब्दों के बाद 'मूलसघे' शब्द स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है। निचली

पंक्ति में एक त्रिकोण आकार का चिन्ह बना है जिसके बाद लेख की द्वितीय पक्ति आरम्भ होती है ।

प्रस्तुत मूर्ति का पिछना हिस्सा कुछ लाल-पीला पड़ गया है । पता चला कि लगभग ५० वर्षों पहले घर मे लगी आग की वजह से ऐसा हुआ है । इसके सिवा कोई क्षति नही पहुची । शेष प्रतिमा का पालिश अब भी जैसा का वैसा है ।

प्रस्तुत मूर्ति सम्भवत. गुजरात या राजस्थानी कला का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि इसी क्षेत्र मे सात सर्प-फनों के छत्र के साथ ही लेखो मे पार्श्वनाथ नामोल्लेख की परम्परा लोकप्रिय थी । सम्भव है यह शब्द भी उक्त मूर्ति लेख मे आया हो । वैसे ही यहां के जैन परिवारो की पिछली पीढ़ी कही बाहर से आकर बसी है । आस-पास के इलाके मे विरले ही जैन लोग मिलते है ।

वर्तमान युग मे २४ तीर्थंकरों मे से अन्तिम दो तीर्थंकरों पार्श्वनाथ एव महावीर की ही ऐतिहासिकता सर्वमान्य है । पार्श्वनाथ को ही जैन धर्म का वास्तविक सस्थापक माना गया है । पार्श्वनाथ की यह मूर्ति विदर्भ के जैन धर्म के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है इनमे सदेह नही ।

□□

(पृ० १३ का शेषांश)

रचयिता परमानन्द वैद्यरत्न पाण्डेय है जो वैष्णव परिवार के है परन्तु जैनधर्म के प्रति उनके मन मे बड़ा सद्भाव था । इसी कारण २५००वें वीर निर्माण महोत्सव के उपलक्ष में प्रस्तुत चम्पूकाव्य की रचना की । प्रस्तुत चम्पू का प्रारम्भ यजुर्वेद के उस मन्त्र से होता है जिसमे गणराज्य की मूल भावना निहित है । अनन्तर णमोकार मन्त्र का स्मरण कर लाल किले पर निर्वाणोत्सव पर हुए सम्मेलन का वर्णन है । ऋषभदेव को नमस्कार करके चौबीस तीर्थंकरो के जन्मादि का वर्णन है । इसके आगे १/३ भाग मे महावीर भगवान का चरित्र चित्रित है । आगे १/३ भाग मे जैनधर्म व उसके सिद्धान्तो का वर्णन है । अनन्तर महावीर निर्वाण वर्णन, महावीर के ११ गणधर, सत्पुरुष व नारी का लक्षण महावीराष्टकस्त्रोत का वर्णन् है । अन्त मे आवाहन किया है कि महावीर के उपदेशो का क्रियान्वन ही आज उनका वास्तविक स्मारक और यथार्थ श्रद्धांजलि है ।

इनके अतिरिक्त "वर्धमान चम्पू" मे तीर्थंकर महावीर के पाँच कल्याणको का विवेचन है । इसके रचयिता मूल चन्द शास्त्री हैं । प्रस्तुत रचना अभी अप्रकाशित हैं । पुण्याश्रव चम्पू के रचयिता श्री नागराज है । सम्भवतः इसमे किसी पुण्य के महत्व का वर्णन होना चाहिए । "भारतचम्पू" का उल्लेख श्री जुगल किशोर मुख्यार ने किया है । प० आशाधर कृत भरतेश्वराभ्युदयचम्पू मे भारत के अभ्युदय का वर्णन होना चाहिए ।

जैनाचार्य विजयचम्पू के लेखक अज्ञात है । इसमे ऋषभदेव से लेकर मल्लिषेषण तक अनेक जैनाचार्यो की वादप्रियता के साथ उनकी अन्य सम्प्रदायो पर प्राप्त विजय का वर्णन है ।

इस प्रकार प० सोमदेव से प० परमानन्द तक जैन चम्पू काव्यो की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही । यद्यपि ये सख्या मे अल्प है परन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से अग्रगण्य हैं । प्रत्येक चम्पू काव्य मे अपनी कुछ-न-कुछ विशेषता है जिससे वे विद्वत्समाज के शिरोहार है ।

३३० ए, छीपी टैंक, मेरठ

आर्थिक समस्याओं का हल—अपरिग्रह

डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन

विश्व समाज की सभी क्रियायें अर्थ अर्थात् धन से सम्बन्धित हैं। जो समाज या राष्ट्र जितना अधिक धनी है, वह उतना ही अधिक व्याकुल और असन्तोषी है। प्राचीन और अर्वाचीन प्राय: सभी अर्थशास्त्री अर्थ को ही विकास का स्वरूप-मापक मानते हैं, अतः प्रत्येक देश सर्व-शक्तिशाली एव विकसित बनने के लिए और भी अधिक अर्थ-प्राप्ति का इच्छुक दिखाई पडता है। फलस्वरूप विश्व-समाज मे इस अर्थ-प्राप्ति के लिए अशान्ति एव संघर्ष व्याप्त है।

अर्थ शब्द ऋ धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है—पाना, प्राप्त करना या पहुचना। अत: अर्थ का तात्पर्य है—जो पाये, प्राप्त करे या जिसे पाया जाये या प्राप्त किया जाये। इस प्रकार हीरे, जवाहरात, स्वर्ण, रजत आदि बहुमूल्य धातुयें, वैधानिक मुद्रा तथा भौतिक सम्पत्ति आदि सभी अर्थ कहलाते है। यह तो भौतिकी दृष्टिकोण है। किन्तु जैनाचार्यों ने इसके अतिरिक्त अर्थ को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी परिभाषित किया है। आ० कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायो को 'अर्थ" नाम से कहा है, उनमें गुण-पर्यायों वाला आत्मा द्रव्य है।[१] "अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति अर्थो नव पदा.र्थ[२]"—जो जाना जाता है वह अर्थ है, जो नव पदार्थ रूप है। "अर्यते गम्यते जायते इत्यर्थ[३]" जो जाना जाये सो अर्थ है। "अर्यध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा[४]" अर्थध्येय को कहते है, इसमे द्रव्य और पर्याय लिये जाते है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में आत्मा ही अर्थ है और यही प्राप्तव्य है। धन स्वरूप अर्थ की उपादेयता उन्ही के लिए है जो शारीरिक-ऐन्द्रिक सुख प्राप्त करना चाहते है, किन्तु जो मोक्षार्थी हैं उनके लिए तो इसका पारमार्थिक तात्पर्य ही प्रयोजनीय है क्योकि इस त्रिलोक मे समस्त ज्ञेयों मे आत्मा स्वरूपी अर्थ ही एकमात्र ज्ञेय है। इसे जानकर अन्य पदार्थों को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि वे स्वतः ही ज्ञेय हो जाते है। किन्तु आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञेयों को जानकर भी व्यक्ति अज्ञेय ही रहता है।

आज विश्व मे वर्ग संघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, विषमताये बढ रही है, असन्तोष और ईर्ष्या जन्म ले रही है, धनी व निर्धन, श्रम व पूजी, नियोजक व नियोजित आदि के मध्य जो अन्तर बढ़ता जा रहा है, मानव, मानव का शोषण कर रहा है तथा हिंसक घटनायें, बेईमानी, चोरी-डकैती, व्यभिचार व अपहरण तथा युद्धो की विभीषिकाये धधक रही है—उन सबका मूल कारण यह है कि समाज-विश्व के लोग प्रत्येक वस्तु को अपनी समझकर उसे येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट है कि विश्व मे सम्पत्ति एवं भोगोपभोग की सामग्री अर्थात् आवश्यकता पूर्ति के साधन कम है और और जन-समाज बहुत अधिक असीमित माना जा सकता है। इन सबसे अधिक है—व्यक्ति की तृष्णा या मूर्च्छा-भाव। मूर्च्छा अर्थात् "यह मेरा है, यह वस्तु मेरी है" ऐसा ममत्व परिणाम की परिग्रह कहलाता है।[५] कुबेर के समान वैभव होते हुए भी जिसमे किंचित् भी लालसा, तृष्णा या मूर्च्छा नही है, वह अपरिग्रह-समान है। इसके विपरीत जो अकिंचन है किन्तु कुबेर के वैभव को पाने की लालसा रखता है, वह महापरिग्रही के समान है। इससे स्पष्ट होता है कि मात्र बाहरी पदार्थों का सचय परिग्रह नही है किन्तु उनके प्रति जो लगाव 'अटैचमैण्ट' है, जोगानुभूति है तथा उनको प्राप्त करने की सतत वाञ्छा है, वह ऐसी स्थिति मे परिग्रह नाम पा जाता है। यह मूर्च्छा ही पांचो प्रकार के पापो का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्धन एवं संरक्षण के प्रति जो सदैव

सचेत है, वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म से बच ही नहीं सकता।

अर्थ संचय की भावना या तृष्णा के कारण समाज में मत्स्य-न्याय प्रचलित हो जाता है अर्थात् जो शक्तिशाली होता है वह दूसरे का शोषण करने लगता है। फलस्वरूप खींचतान व छीना-झपटी चलने लगती है और शुरू हो जाता है संघर्ष, विविध अत्याचार व अन्याय, आर्थिक शोषण आदि। जैसे हिंसा में प्राणों की हानि होती है, वैसे ही आर्थिक शोषण में भी हिंसा होती है अतः आर्थिक शोषण भी हिंसा है। हिंसा मे तो व्यक्ति मर जाता है किन्तु शोषित होने पर या धन के हरण हो जाने पर मनुष्य जीवित रहते हुए भी मरण के समान होता है। धन-सम्पत्ति के एकत्रीकरण के लिए व्यक्ति न केवल बेईमानी करते है बल्कि चोरी का सहारा भी लेते है। धन के मद में आकर वह अब्रह्म का भी सेवन करने लगता है। इस तरह पांचों प्रकार के पापो में रत रहता है। स्पष्ट है कि परिग्रह अर्थात् अनावश्यक संचय पाप है, अपराध है और एक सामाजिक अन्याय है। इससे दूसरों क आधिकारिक वितरण का अपहरण होता है। आवश्यकता पूर्ति के लिए वस्तुयें उपलब्ध नहीं होने के कारण दूसरों की कार्यक्षमता का ह्रास होता है। जिससे राष्ट्रीय उत्पादन मे कमी आती है। इस प्रकार सामाजिक व राष्ट्रीय हित प्रतिकूल रूप से प्रभावित होते हैं। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह आवश्यक रूप से दूसरो के हिस्से का अपहरण है, अनार्जित आय है और विविध आर्थिकी समस्याओ का मूल है।

परिग्रह दो प्रकार का है—बाह्य परिग्रह एवं अतरंग परिग्रह।

१. बाह्य परिग्रह—इसमे भूमि, मकान, स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि अचेतन तथा नौकर-चाकर, पशु,स्त्री आदि सचेतन पदार्थ शामिल किये जाते है।[1] इनके संयम के लिए व्यक्ति अवैधानिक तरीको का उपयोग करता है जिससे समाज में भ्रष्टाचार व अनैतिकता बढ़ जाती है और समाज के निम्न व मध्यम वर्ग के लोगों के आर्थिक शोषण के असह्य कष्टो में वृद्धि हो जाती है। जब व्यक्ति इन्हें अपनी आवश्यकता पूर्ति का साधन मानकर साध्य मानने लगता है, तभी गरीब-अमीर, छोटे-बड़े का वर्गभेद पैदा होता है और तभी से संघर्षों का जन्म होता है। हड़तालें, तालाबन्दियां, तोड़-फोड़ आदि सब इसी के परिणाम हैं। अतः समाज में आर्थिक शोषण की समाप्ति, अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति, समत्व की स्थापना तथा समाज को समान रूप से सुखी, समृद्ध और सुगठित करने के लिए बाह्य भौतिक पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संचय करने पर नियन्त्रण-नियमन आवश्यक व अनिवार्य है।

२. अन्तरंग परिग्रह—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ कषाय और एक मिथ्यात्व आदि भावनायें व्यक्ति के अन्तरंग परिग्रह हैं।[2] अकिंचन होने पर भी यदि व्यक्ति या समाज की संचयशील बुद्धि बनी रहे तो न तो आर्थिक शोषण रुकेगा और न ही आर्थिक सामाजिक विषमता दूर होगी, अतः व्यक्ति को अपने आंतरिक विकारों पर स्वयं ही नियन्त्रण पाना होगा। परिग्रह हो या न हो, किन्तु यदि अनावश्यक संचयशील बुद्धि न हो तो सामाजिक क्षितिज पर कोई प्रभाव नही होगा और न ही कोई समस्यायें पैदा होंगी। आत्महित की बुद्धि रखने वाला पारिवारिक भरण-पोषण के लिए आवश्यक व पर्याप्त तो धनादि का संयम करेगा किन्तु अनावश्यक संयम कभी नहीं करेगा, फलस्वरूप आर्थिक शोषण नही होगा और समाज में आर्थिक समानता सुस्थापित होगी। पूंजीवाद का मूल यह मूर्च्छाभाव है जिस पर नियन्त्रण आवश्यक है अन्यथा पूंजीवाद के समस्त दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

समस्याजनक तरीके—प्रायः व्यक्ति दूसरो से अधिक धनी बनने का स्वप्न देखते हैं और इसके लिए वह कोई भी तरीका अपनाने के लिए तत्पर रहते हैं। जैसे कुछ तरीके निम्न हैं—

१. प्रत्यक्ष व परोक्ष कर आदि सार्वजनिक राजस्व एवं किसी व्यक्ति की धन-सम्पत्ति आदि को चोरी करना, चोरी करने की प्रेरणा देना या दिलाना, चोरी के उपाव बताना या चोरी करने वाले व्यक्ति के कार्यों से सहमति प्रकट करना आदि।

In Rajasthan and Gujarat specially—where our feather co-operatives are—it lives just outside the villages and is almost tame, an easy mark for traps, bullets and even village bows and arrows.

Please don't believe that the bird, just because it is venerated and protected by law, is not killed even now. The religious centres of Hardwar, Benares, the tourist shops in small and big hotels, at the Red Fort, in Agra--where do you think they get their feathers from? Professional fowlers who stalk the bird and kill it. The best time is in the morning while it dances or at roosting time, for these beautiful silly birds sleep in the same trees every night and the hunters wait under the trees. It is killed the way you kill a chicken. The head is chopped off, the crest pulled out and then all the tail feathers The hunters keep the meat, the shops get the feathers. Sometimes when they don't want to risk blood on the feathers, the btrd is caught in a trap, its legs are broken, it lies there screaming with short gasping shrieks—ka-aan ka-aan—while the hunter plucks its feathers one by one before killing it. The equivalent of pulling bunches of hair off your head or the nails off your fingers.

This bird of ours is not going to last another 10 years for the male is killed usually during the mating season for that is when he has his full train--the longest or last rows of his upper tail which are the feathers the shops want most. When the male is killed before he mates, it is only a matter of time before the species dies out. And now, of course, the government will recruit more fowlers, more killers and earn a lot of foreign exchange - which it can use to buy more guns and fighter planes.

Is there no limit to the venality of this government? I would like to see any other country export its national bird—or kill its national bird and export the feathers for gross ugly handicrafts like fans, brushes, piano dusters or just arrangements in vases instead of flowers.

Don't buy peacock feathers. They have not been collected naturally for any shop in India. In our religious and mythological sculptures and paintings the presence of the peacock is meant to shwo an idyllic and sanctified state of being. They will bring you happiness they will destroy evil represented by snakes which peacocks eat in great quantities I know they bring joy, for often, careering across the country on a political tour I have come across them in the monsoon and my heart has always felt lighter If you believe, as the Sanskrit books believe, that a peacock is the glory of God, then help protect them not only by stopping tourist shops from stocking feathers but also by writing to your state government, the co-operatives and to the Chief Controller of Imports and Exports to ban the export of the feathers. □□

(Borrowed from the Illustrated Weekly of India with thanks)

(गतांक से आगे)

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

☐ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	१३	सूत्र सख्वा २ की	सूत्र संख्या २ एव १५ की
२१६	७	सासणसम्माइट्ठि	तिरिक्खसासणसम्माइट्ठि [परिशिष्ट दृश्यताम् पृष्ठाक २३]
२१६	२१	जीवो की	तिर्यंचो की
२१८	२६	गुणस्थान के काल से	गुणस्थान मे स्थिति अर्थात् टिकाव के काल से
२२४	११	कहेग ओर	कहेगे ओर
२२४	१२	जयगा	जायगा
२३७	२८	पचेन्द्रियतिर्यंच तिर्यंचयोनिनी	पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिनी
२४०	२६	सबसे बडा	सबसे स्तोक (थोड़ा)
२४२	१६	असंख्यातगुणा	असख्यातगुणा
२४५	१६	का कथन करना	है, ऐसा कहना
२४६	२	तप्पाडिसेघगट्ठं	तप्पडिसेहणट्ठ
२४८	२८	विकल्प के होने मे	विकल्पस्वरूपता प्राप्त होन मे
२४६	३	घणंगुलतदियवग्गमूल—	× × × × × × × [चार भागहार कहाँ से आगये? तीन धाराओं के लिए तीन ही भागहार चाहिए। देखो—पृ. १४१, १५०, १५६, २२५ आदि]
२४६	३	—विदियवग्गमूलाणि	—विदियवग्गमूलाणं
२५२	१८	दून	दूने
२५२	२५	आय	आये
२५४	७	—संजदरासि	—संजदरासि च [देखो—परिशिष्ट पत्र २३]
२५४	१६	आदि की	आदि नो
२५६	३	णादव्वा	णादव्वं (देखो—ध. पु. ४।१६३, चि. सा. ३१३ आदि)
२५६	१२	पचास योजन	पचास वर्ग योजन
२५६	१४	७६०५६६४१५०	७६०५६६४१५० (वर्ग योजन)
२५७	२२-२४	यहाँ धवला के उपलब्ध	× × × × ×

निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

शुद्ध	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५७	२८	पच्चीस हजार से	पच्चीस हजार योजन से
२५८	१६	संख्या प्रतरांगुलों से	संख्यात प्रतरांगुलों से
२५६	११	जयगी	जायगी
२६१	२८	स्त्रिवेदियों के अल्प होने के कारण का	स्त्रिवेदियो में सासादनसम्यग्दृष्टित्व आदि भावों के कारण का [यानी उनमें विशुद्धि लब्धि आदि हेतुओं का]
१६१	३०	योनिनियों का	मनुष्यनियो का
२६३	२१	अवयवो के	अवयवी के
२६५	१३	गुणकार है जो	प्रतिभाग है जो
२६६	२	वतव्वं ।	वत्तव्वं । [मणुस अप्पज्जत्ताण णत्थि परत्थाण-प्पाबहुग ।]
२६६	१५	कथन करना चाहिए	कथन करना चाहिए। [लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से व्यतिरिक्त शेष गुणस्थानों के अभाव के कारण) परस्थान अल्प-बहुत्व नहीं है ।]
२६७	३२	ी प्राप्त ोति	ही प्राप्त होती
२७१	३	तं	ते (परिशिष्ट पत्र २४)
२७८	१६-२०	सूच्यगुल के प्रथमवर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल से	सूच्यंगुल को सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल से
२८०	१	आघ ॥६६॥	ओघं ॥
२८३	१०	असंखेज्जगुणा	संखेज्जगुणा
२८३	२७	असंख्यातगुणे	सख्यातगुणे
२८३	२६	असंख्यातगुणे	संख्यातगुणे
२८५	३०	गो. जी. ६६५-७०	गो. जी. ६३५-४०
२८८	१६	घनांगुल गुणकार है।	घनागुल प्रतिभाग है।
२८८	३०	घनांगुल गुणकार है।	घनांगुल प्रतिभाग है।
२८६	३०	ऊपर वाणव्यन्तरों से	ऊपर अल्पबहुत्व अपने स्वस्थान अल्पबहुत्व के समान है। वाणव्यन्तरो से
२८६	३१	ग्रैवेयक तक अपने स्वस्थान के समान है।	ग्रैवेयक तक परस्थान अल्पबहुत्व जानकर कहना चाहिए।
२६०	२	सगसत्थाणभंगो	सगसत्थाणभंगो।
२६०	३	त्ति। उवरि	त्ति [परत्थाणप्पाबहुग जाणिय णेयव्वं]। उवरि
२६२	८	सोहम्मीसाणमिच्छाइट्ठिविक्खंभ-सूई व।	सोहम्मीसाणमिच्छाइट्ठिविक्खंभसूईमेत्त-सूचि-अंगुलपढमवग्गमूलाणि।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६२	२४	विष्कंभसूची के प्रतिभाग के समान	विष्कम्भसूची प्रमाण सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल [आज्ञा दें तो पूरी गणित करके उससे सिद्ध कर भेज दूं ।]
२६६	१	होंती ।	होंति ।
३०१	१७	भाग से ।	भाग से
३०३	२६	जगच्छ्रेणी के	जगत्श्रेणी से
३०४	२	संखेज्जसूई	सखेज्जसूचि-अंगुल
३०६	२७	आदर	प्रारम्भ
३०६	२६	आदर	प्रारम्भ [नोट—आदरेदव्व होता तो 'आदर' अर्थ ठीक था । आढवेदव्वं का 'प्रारम्भ' अर्थ ही ठीक है । देखो—ज. ध. पु. १४।३२३ में आढत्तसादो का अर्थ तथा ज. ध. १५।२२६ में आढवेइ आदि के अर्थ । देखो—ज. ध. १५।१६० में आढविज्जदे का अर्थ ।]
३०७	१६	सरागस्वरूप से	एक स्वरूप से
३१४	२	विगलिंदियअपज्जत्तेहिय	विगलिंदियअपज्जत्तेहि य
३१८	चरम पंक्ति	अरने पर	करने पर
३१६	३०	अपर्याप्त जीव हैं ।	अपर्याप्त जीव है । शेष एक खण्ड प्रमाण द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं ।
३२०	१७	तक एकेन्द्रिय	तक सर्व एकेन्द्रिय
३३८	१८	असख्यातगुणे जाकर	संख्यागुणे जाकर
३३६	१०	अनेकान्त है ।	अनेकान्तिक (हेत्वाभास) दोष है ।
३४१	१३	अब द्विरूप मे	अब घनाघन में
३४२	२६	घटा देना चाहिए ।।७५।।	घटा देना चाहिए [तब जो आता है वही अभीष्ट राशि का अवहारकाल होगा ।] ।।७५।।
३४४	११	पल्योपम सागर में	पल्योपम से न्यून सागर में
३४७	१०	जीवरसि के	जीवराशि के
३६०	१	गुणदे	गुणिदे
३६०	२१	पर्याप्तराशि के	राशि के
३६५	१६	असख्यातसम्यग्दृष्टि	असंयतसम्यग्दृष्टि
३६६	५	बादरवणप्फइपज्जत-पत्तेय सरीरपज्जत्त—	बादरवणप्फइपत्तेयसरीरपज्जत्त—
३६६	२०	वनस्पतिकायिक पर्याप्त, प्रत्येकशरीर पर्याप्त	वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर-पर्याप्त

(क्रमशः)

तीर्थंकर ऋषभ स्मृति पर विशेष :

निर्माणोत्सव : समय की पुकार

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

वृषभ-ऋषभ उत्तम को कहते है और जैनियो मे इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भी उत्तम थे। उनका निर्वाण हुए कितना काल बीत चुका यह किसी को मालुम नही और न कोई मनीषी ही इसकी गणना कर सका। फिर भी लोग निर्वाण की स्मृति ढोये और उनका निर्वाणोत्सव मनाते चले जा रहे है। भला, निर्वाण—अन्त, का उत्सव क्यों और कैसे ? जो बीत चुका, चला गया उसकी जय बोलना लकीर को पीटना ही है—निष्फल। उत्सव तो निर्माण में और निर्माण का ही सार्थक है, जिसमे कुछ बने या बन सके, प्रगति हो सके। सो लोग अपना निर्माण तो करते नहीं—ऋषभवत् आचार-विचार तो बनाते नही, कोरे निर्वाण की जय बोले चले जा रहे है जैसे वे अजान हों या विकृत परम्पराओं द्वारा अजान कर दिये गये हों। ऐसे ही कुछ लोग है जो जन्म-जयन्तियों की परम्पराओ को ढो रहे है। गोया, उन्हे दो ही बाते याद रह गई हैं जन्म और अन्त की—जयन्ती और निर्वाण की।

स्मरण रहे कि जैन मान्यता मे उत्पाद-व्यय के साथ द्रव्य का एक तीसरा स्वभाव भी है—ध्रौव्य। जिसे जैनी भुला बैठे है। वे जन्म-मरण की बात करते है वस्तु का जो थिर स्वभाव ध्रौव्यरूप धर्म है और जिससे ध्रौव्य—आत्म स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है—उस धर्म सेवन को भूल बैठे हैं। जब तक मानव स्व-जीवन में अपने निर्माण करने के मार्ग पर नही चलेगा, तब तक वह अनगिनत जयन्तियो और निर्वाणोत्सवो के मनाने के बाद भी गिरता ही जायगा। क्योंकि जन्म-मरण वस्तु की पर्याएँ हैं जो अथिर है और अथिर के सहारे वढने की बात भी अथिर है। भला, जो स्वय अथिर है वह किसी को थिर कैसे बनायेगा। अतः इन अथिर उत्सवो अर्थात् जयन्तियों और निर्वाणोंके मनाने मात्रसे कुछ हाथ नहीं आयेगा। मनाना है तो साथ मे स्वयं के निर्माण उत्सवो को मनाएँ—अपना निर्माण करें—आचार-विचार सुधारें।

हम देख रहे है कि आज जैन की हर शाखा वाले गतानुगतिक भेड़चालो से हो रहे है। सभी सम्प्रदायो के सभी वर्गों मे श्रावक तो श्रावक, साधुगण भी आचार-विचार से हटकर पैसे और दिखावे की चपेट में आ गये हैं। सभी वर्गों में भीषण काण्ड हो रहे है और कोई उन्हें वर्जन मे समर्थ नहीं है। इधर लोग अहिंसा की बात करते है और हिंसा के मूल परिग्रह को आत्मसात् किये जा रहे है। हर एक शाखा ने स्व-उपकार को छोड केवल परोपकार करने को ध्येय बना रखा है यह बड़ी भारी कमजोरी है।

आज का जैन नामधारी प्राणी सर्वानुमत मान्यताओं (जो जैनो मे भी हैं) को पोषण दे रहा है। पर, मूल जैन मान्यता अपरिग्रह (जिसके होने पर शेष सभी धर्म स्वय पल जाते है) को भूल चुका है। स्मरण रहे जिनका आप निर्वाण मनाते है उन्होने भी पहिले परिग्रह त्याग कर अपना निर्माण किया। इस निर्माण अवस्था मे उनका साधु रूप था—उस साधुत्व की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। आज तो आपका साधु भी विचलित है : और नही, तो उसके शुद्ध रूप का ही निर्माण कीजिए।

तीर्थंकर ऋषभदेव के बारे मे हम क्या कहे वे महान् और महानतम थे। इस युग के वे आदि पुरुष थे, उन्होने धर्म का प्रकाश किया। यदि वे न होते तो आज जैनी भी न होते। उनके बतलाये मार्ग से आत्मोत्थान की दिशा का बोध होता है और मार्ग पर चलने से सिद्ध-पद की

(शेष पृ० ३२ पर)

दिगम्बर साधु की मोर-पिच्छी ?

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

गत दिनों हमें एक पत्र मिला है और हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया है कि क्या मयूर पिच्छी धारण करने से वर्तमान दिगम्बर साधु-साध्वियों का हिंसा के व्यापार में योगदान नहीं ?

लेखक ने हमें 'The Illustratad weekly of India, oct. 15, 1989 का वह पृष्ठ भी भेजा है जिसमे 'Maneka Gandhi calls for a ban on the wanton Killing of our national bird, The pecook for the export of its Feathers' लेख छपा है।

उक्त लेख को पढ़कर हम सिहर उठे कि ऐसी निर्दयता से भी मयूर पंख प्राप्त किए जाते हैं क्या ? यदि ऐसा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम महाव्रती मुनियों को तो हिंसा में निमित्त कारण होने से बचाएँ, आदि। हम उक्त अंग्रेजी लेख पाठकों की जानकारी के लिए अनेकान्त के पृष्ठ १९-२० पर दे रहे हैं।

उक्त लेख के प्रसंग से हमने उचित समझा कि पिच्छी पर कुछ चिंतन दिया जाय। क्योंकि जब आज मुनिगण सैकड़ों (शायद वे ५००-१००० तक भी होते हों) पिच्छी-(पंखों) की पीछी रखते है और श्रावक उन्हे पीछी देते हैं, तब इतने अधिक मयूर पखों की उपलब्धि के तरीके का प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि क्या मयूर पंखों को श्रावक स्वयं बीनकर लाते है या बाजार से खरीदते हैं ? क्योंकि वर्तमान साधु तो बस्तियों के रहने मे अभ्यस्त हैं, वे पख कैसे ला सकेंगे. आदि। पिच्छी पर चिंतन देने से पहिले हम यह और स्पष्ट कर दें कि दिगम्बर साधु को पीछी अनिवार्य क्यों है --जबकि वह सर्वथा अपरिग्रही हैं ?

जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र अपने पिता के पितृत्व गुण का व्यापन करता है—पितृत्व गुण को पुष्ट करता है, वैसे ही अपरिग्रह से फलीभूत अहिंसा आदि भी अपरिग्रही के अपरिग्रहत्व गुण का व्यापन करते हैं। सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण ही दिगम्बर साधु में अहिंसादि महाव्रत फलित होते हैं। यदि ऐसा न होता और अपरिग्रह की उपेक्षा कर अहिंसा आदि को प्रधान-धर्म माना गया होता तो आचार्यों ने पूर्ण दिगम्बरत्व में ही अहिंसादि महाव्रतों का व्यापन न किया होता अर्थात् उन्होने परिग्रहियो मे भी अहिंसा आदि महाव्रतों के हो जाने का विधान कर दिया होता ? पर, ऐसा किया नही गया है। जब भी महाव्रत होंगे—सदा पूर्ण अपरिग्रही में ही होंगे। फलतः —मूल धर्म अपरिग्रह ही है और दि० साधु इसी रूप मे होते हैं—वे अपने पास तिल-तुष मात्र बाह्य और रागादि-रूप अन्तरग परिग्रह नही रखते। भावपाहुड में दि० साधु के विषय में कहा है—

'णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥
तिलतुसमत्तणिमित्तसम वाहिरगंथ संगहो णत्थि' ॥५५॥

प्रव्रज्या—निर्ग्रन्थस्वरूप, परिग्रह से रहित, मान-रहित, आशा से रहित, राग-द्वेष से रहित, ममत्वभाव रहित और पर कर्तृत्व के अभिमान से रहित होती है। उसमें बाह्य रूप मे भी तिल-तुष मात्र परिग्रह नही होता।

साधु के पूर्ण अपरिग्रह रूप में होने पर वह स्वयं में अन्य पाप-जनक सभी दोषों से बचा रहता है पर—उसकी शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाओं में अन्य जीवों की विराधना से नहीं बचा जा सकता—सूक्ष्म जीवों के घात की सम्भावना नही रहती है। फलतः उस सम्भावना के निवारण हेतु शास्त्रों मे साधु को मयूर पिच्छी रखने का विधान किया गया है और मयूर पिच्छी को परिग्रह संज्ञा से मुक्त रखकर उसे उपकरण की संज्ञा दी गई है। पिच्छी उपकरण इसलिए है कि उससे जीवों का प्राणरक्षणरूप उपकार होता है।

आगम में पिच्छी के निम्नगुण बतलाए हैं—

'रजसेयाणमगहणं मद्दवसुकुमारदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा त पडिलिहणं पसंसति' ॥
—भ० आ० २/६८

विजया०—'रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहकं, मदुस्पर्शता, सुकुमार्यं, लघुत्व चैते पंचगुणा सन्ति ।'

अर्थात् जो सचित्त और अचित्त रज-धूलि को ग्रहण न करे, पसीने से गीली न हो, कोमल स्पर्श वाली और स्वयं में कोमल हो तथा हल्की हो ऐसी प्रतिलेखना (पिच्छी) प्रशस्त कही गई है। क्योंकि सूक्ष्म जीवो की रक्षा करने मे ऐसी पिच्छी ही समर्थ हो सकती है और उक्त गुण मयूर पिच्छी मे ही पाए जाते है—इससे कोमल उपकरण अन्य नही। मूलाचार के समयसार अधिकार में इसी गाथा की टीका में उक्त पांचों गुणो को बतलाकर लिखा है—

'यत्रैते पचगुणाः द्रव्ये सन्ति तत्प्रतिलेखन मयूरपिच्छ-ग्रहणं प्रशसन्ति आचार्याः गणधर देवादय इति ।'

मूलाचार के समयसार अधिकार मे गाथा १७ मे 'पडिलिहण'—प्रतिलेखन शब्द है, वहा वसुनन्दी आचार्य-कृत टीका मे प्रतिलेखन शब्द का अर्थ 'मयूरपिच्छी' किया गया है—'दया प्रतिपालनस्यलिङ्गं मयूर पिच्छिका ग्रहणमिति ।' मयूर पिच्छिका ग्रहण दया-पालन का चिह्न है। अमरकोश २।५।३१ मे 'शिखण्डस्तु पिच्छ वर्हेनपुंसके' कहकर स्पष्ट किया है कि—पिच्छ शब्द मयूर पख का वाचक है। जैन आगमो मे इस पिच्छ शब्द का अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है।

नवीन—दीक्षा देते समय आचार्य दीक्षित शिष्य को 'णमोअरहंताण भो अन्तेवासिन्, षड् जीवनिकाय रक्षणाय मार्दवादि गुणोपेतमिदं पिच्छिकोपकरणं गृहाण'—(क्रियाकलाप पृ० ३३७) बोलकर पिच्छिका देता है। इसी क्रियाकलाप मे दीक्षा गृहण की विधि मे आचार्य द्वारा पिच्छिका के दिए जाने का उल्लेख है—

'सिद्धयोगिवृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुंचाख्या नाग्न्य पिच्छात्मक्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥'

गुरु वन्दना के सम्बन्ध मे भी पिच्छिका के उपयोग का उल्लेख है। तथाहि—'विगौरवादिक्षेपेण सपिच्छांजुलिशालिनः। (आ० सा० २।७२) साधु वन्दना के प्रसग में लिखा है—'पञ्चर्धशय्यग्राऽऽनम्य सपिच्छांजुलिभालक ' (आचारसार २२।७)

उक्त सभी भाति दिगम्बरो मे मयूर पिच्छी का विधान है। और श्वेताम्बर आगमो मे श्वेताम्बर साधुओ के लिए पिच्छिका के स्थान पर रजोहरण रखने का विधान मिलता है। वहा रजोहरण के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। जैसे—औणिकम् (ऊनकी) औष्ट्रिकम् (ऊट के बालो की) सनकं (सन की) वल्कल (छाल से बनी) मुंजदसा (मूंज की) कौसेज्जदसा (रेशमी) आदि। हमारी दृष्टि मे रजोहरण के उक्त रूप किसी भी भांति मयूर पिच्छि के गुणो की समता नही कर सकते और ना ही उनमें पिच्छिका मे बताए गए पांचो गुण ही सम्भव हो सकते है। मयूर पिच्छी मे तो इतनी कोमलता होती है कि उसे आंख की पुतली मे फिराने पर भी कोई हानि नही होती। ऐसे गुण के कारण ही वह जीव रक्षा मे समर्थ है।

जहां तक मयूर-पिच्छ प्राप्त करने की विधि का प्रश्न है कि साधु को पिच्छ (मयूरपख) की प्राप्ति कैसे हो? वह स्वयं मयूरपख बीन-उठाए—एकत्रित करे या श्रावक उसे पिच्छ दान दे? सो अभी तक तो हमारे देखने मे नही आया कि पिच्छ-दान नामक भी कोई दान हो। प्राचीन आरातीय आगमो मे भी कही ऐसा उल्लेख हमारी दृष्टि में नही आया। हां, इसके विपरीत ऐसा सिद्ध अवश्य होता है कि प्राचीनकाल मे मुनिराज स्वय ही जगल से मयूर पंख चुन लेते रहे हो। श्लोकवार्तिक मे 'अदत्तादान स्तेयम्' सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है—

'प्रमत्तयोगतो यत् स्यादत्तादानमात्मनः ।
स्तेयं तत्सूत्रित दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः ।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भ. शुष्कगोमयखण्डजम्—
भस्मादि वा स्वयमुक्त पिच्छालाबुफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत् स्तेय प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥'
—श्लो० वा० ७।१५।१-६

अदत्तवस्तु के आदान (ग्रहण करने) मे जहाँ प्रमत्त योग (प्रमाद) है वहाँ चोरी है और जब प्रमाद का योग नही है वहाँ चोरी नहीं है। इसलिए प्रमाद (राग-कषायादि) के न होने से मुनि को सरिता, झरने आदि के प्रासुक जल, गोमयखण्डज—भस्म आदि मयूर पिच्छ और प्रासुक अलाबु-फल (तूबी) आदि के लेने मे चोरी का दोप नही होता है। अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि मुनियों को उक्त वस्तुओ के स्वतः ग्रहण करने का विधान रहा है और उसमे चोरी नही मानी गई है। फलतः—

मुनिगण उक्त वस्तुओं की भाँति मयूरपखो को भी जगल से स्वयं ग्रहण करते रहे है। उनके जंगलो मे रहने से यह सहज साध्य भी रहा है। पर, आज बड़े नगरो की बडी इमारतो तक मे महीनो पडाव डाले हुओं को सब शक्य नही। ऐसे मे सम्भव है कि कभी ऐसे ही साधुओ ने श्रावको को मयूरपखो के लिए प्रेरित किया हो और ऐसा प्रचलन चल पड़ा हो कि श्रावक मुनियो की पिच्छी का प्रबन्ध करे, आदि। फिर श्रावक का भी क्या ? उसे तो जहाँ जैसी सुविधा दिखी वैसे मयूरपिच्छी का प्रबन्ध करने का क्रम बना लिया और इसके लिए उसे बाजार अधिक सरल और उपयुक्त दिखा—उसने मयूरपख खरीद कर सब प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। अतः पक्की जानकारी कर लेनी चाहिए कि वे मयूरपख जैनी के स्वयं द्वारा ही जंगल से उठाए गए है ? वरना, बकौल श्री मैनका जी के, बड़े व्यापार मे अहिंसा मे पक्का सदेह ही है—अवश्य ही मयूर को पीडित किया जाता होगा।

अब रह जाती है पीछी के पखो की सख्या की बात। कि एक पीछी म पखो का परिमाण कितना हो ? हमे नही मालूम कि आज कौन सा परिमाण प्रचलित है ? पर हमारे ख्याल से ४००-५०० पख तो एक पीछी म होते ही होंगे ? किम्वदन्ती तो ऐसी है कि जब कुन्दकुन्द स्वामी की पीछी गिर गई तो उन्होने गृद्ध पख से कार्य चलाया। तो क्या उन्हें वह पंख एक ही मिला था या दो, चार, हजार या पाँच सौ, आदि। विचार करने से तो यही फलित होता है कि साधुगण स्वयं ही परिमित पखो का चयन कर बाँध लेते रहे होगे और वह बन्धन भी शिथिल और किसी मयूर पंख द्वारा ही किया जाता रहा होगा। क्योंकि सूत या धागा और सन भी मुनि के लिए परिग्रह होता है—मुनि को उसका वर्जन अनिवार्य है। वर्तमान साधुओं की पीछियाँ तो दृढ़बध वाली और इतनी सघन होती है कि उनके बन्धन-स्थल का परिमार्जन भी कठिन हो—उनमे सूक्ष्म त्रस जीवो की उत्पत्ति भी सम्भव हो। पीछियों का गुन्थन सम्भवतः सन या धागे से भी होता हो तब भी आश्चर्य नही।

हमे तब खेद होता है जबकि अहिंसा का ढोल पीटने वाले कुछ लोग जीव रक्षा के प्रचार मे पानी मे माइक्रोस्कोप लगाकर जीवराशि दिखाने की बात कर जनता को वैसी हिंसा के वर्जन को कहें और वे सघन रूप से गूथी महाव्रती की पिच्छी पर माइक्रोस्कोप लगाकर उसमे सम्भावित जीव राशि का कभी निरीक्षण भी न करें। आज के बहुत से साधु तो धागो से निर्मित सीतलपाटी जैसी चटाइयो का प्रयोग भी खुलेआम करने लगे है। शायद ये सब उन साधुओं द्वारा धागे को परिग्रह से बाह्य मानने पर ही सम्भव हुआ हो। कई साधु तो तेल की मालिश भी कराते हैं, जबकि तैलयुक्त उनके शरीर और आसन पर सूक्ष्मत्रस जीवो के चिपकने की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता।

कोई लाग 'गृद्ध-पिच्छ' शब्द का अर्थ ऐसा करने लगे हैं कि पिच्छी मे गृद्धता होने से कुन्दकुन्द या उमास्वामी का नाम गृद्ध-पिच्छ पड़ा होगा। सो यह भ्रान्ति है। भला जो आचार्य 'समयसार' मे रहे हो या जिन्होने तत्वो का निरूपण किया हो उनमें गृद्धता कैसे सम्भव है ? फिर, उक्त शब्द का उक्त अर्थ करना व्याकरण-सम्मत भी नहीं जँचता। यदि उक्त अर्थ रहा होता तो 'पिच्छगृद्ध' रूप अधिक उपयुक्त होता। अर्थात् पिच्छ में जो गृद्ध हो वह पिच्छगृद्ध होता है। पर यहाँ न तो गृद्धता अर्थ है और ना ही गिद्ध अर्थ है। अपितु यह शब्द किसने प्रयुक्त किया और किस भाव मे किया ये वही जाने ? दूसरी बात गृद्ध (पक्षी) के पखो को पिच्छ नही कहा जाता। वे तो सस्कृत में गरुत्, पक्ष, छद, पत्र, पतत्र और तनूरुह नामो से कहे जाते है तथा सभी पक्षियो के पखो के लिए भी उक्त शब्द निर्धारित है। तथाहि—'गरुत्पक्षच्छदाः पत्र पतत्रं च

तनूरुहम्—' अमरकोश। मयूर के पिच्छ को पंख नहीं कहा जाता और उक्त नामों से भी सम्बोधित नहीं किया जाता। मोर के पिच्छ को शिखण्ड, पिच्छ और बर्ह नाम ही दिए गए है—'शिखण्डस्तु पिच्छ-बर्हे नपुंसके'—अमरकोश। फलतः गृद्ध के साथ पिच्छ शब्द उपयुक्त नही है और पिच्छ के साथ गृद्ध शब्द उपयुक्त नही है। पिच्छ और पंख दोनों ही नाम भिन्न प्राणियो के लिये निश्चित हैं अतः मयूर-पिच्छ को पख कहा जाने का प्रचलन ठीक नहीं। तथा यह भी सोचने की बात है कि गिद्ध पक्षी का पख जो सर्वथा कठोर-कर्कश होता है, वह पिच्छ जैसे कोमल उपकरण के कार्य की पूर्ति कैसे करेगा? उसके प्रयोग मे तो सूक्ष्म जीवो की हिंसा ही अधिक सम्भावित है। उक्त सभी प्रसग विचारणीय है।

आजकल देखने मे आ रहा है कि साधुवर्ग की पिच्छी का उपयोग सूक्ष्मत्रस जीवों की रक्षा की अपेक्षा स्थूल पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा मे अधिक हो रहा है। साधुगण स्त्रीलिंग और पुलिंग का भेद किये बिना सर्वसाधारण को पीछी छुआ (मार) कर आशीर्वाद देने में लगे हैं। उनके पास दो ही चीजें सुरक्षित है—भाग्योदय के लिए रामबाण औषधि पीछी और आरोग्यता प्रदायक वेदना-हर रस जैसा कमण्डलु का पानी। और लोग हैं कि उनमे होड़ लगी है इन्हें अधिक-से-अधिक मात्रा मे प्राप्त करने की। आखिर साधु भी क्या करें? वह कोई तीर्थंकर तो नही जो पहिले अपना हित करे। आज तो अधिकांश साधु का ध्येय मानों परोपकार करना मात्र बनकर रह गया है—कही यंत्र-मंत्र दान से और कहीं पीछी-कमण्डल जैसे उपकरण से। उसे अपने आत्महित से प्रयोजन नहीं। और ठीक भी है कि जब इस काल मे यहाँ मोक्ष नही तो आत्मा से ही क्या प्रयोजन? फिर, आत्मा की चर्चा के ऊपर तो आज परिग्रहियों का राज्य है—उन्होने ही आत्म चर्चा को पकड़ रखा है। खैर,

पीछी के सम्बन्ध मे उक्त प्रचलित प्रक्रिया को प्राचीन शास्त्रो में देखना चाहिए और तदनुरूप पीछी का निर्माण और उपयोग होना चाहिए—जैसी आगमाज्ञा हो वैसा करना चाहिए। हमारा कोई आग्रह नही।

(पृ० १८ का शेषांश)

न होने से वह पापो से तो बचता ही है बल्कि उसका व्यवहार विनम्र व सरल होने के कारण आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार अपरिग्रही मानवीय, भौतिकी व आध्यात्मिक तीनों लक्ष्यो की पूर्ति करता है।

अन्त मे, जैन समुदाय का वर्तमान समाज-देश में सर्वाधिक महत्व है क्योकि अधिकांश वाणिज्य इनके हाथो मे है और समाज मे दहेज आदि जैसी भयावह समस्याओं का जनक है। यदि इसने अपनी करनी और कथनी मे अन्तर रखा तो भावी पीढ़ी इसे माफ नही करेगी।

जैन कालेज क्वार्टर्स,
नेहरू रोड, बड़ौत-२५० ६११

सन्दर्भ-सूची

१. प्रवचनसार, गा० ७८
२. धवला १३-३, ५, ५, ५०-२८१
३. राजवार्तिक १-२-६-१६
४. सर्वार्थसिद्धि ९-४४-४५५
५. "मूर्च्छा परिग्रहः"—उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र ७-१७
६. अमृतचन्द्राचार्य—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११७
७. अमृतचन्द्राचार्य—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११६
८. उमास्वामी—तत्त्वार्थसूत्र, ७-२७,२९
९. उमास्वामी—तत्त्वार्थसूत्र, ६-१७

जरा-सोचिए !

१. अहिंसा के पुजारी रक्षा करें

जैनी सच्चा और जयनशील होता है। जैन आगमो म जैनी की परिभाषा मे बतलाया गया है कि जो जिन देव का भक्त और जिनोपदेश के अनुसार चले वह जैनी है। प्रामाणिक पूर्व जैनाचार्य, जैनी को परिभाषा मे खरे उतरते रहे है और इसीलिए वे जैन धर्म को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए है। आज जैसी स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है वह सर्वथा विपरीत है। न तो वैसे जैनाचार्य है और न ही वैसे श्रावक है। फलत. जैन धर्म ह्रासोन्मुख है। लोग धर्म प्रचार का ढोल भले ही पीटते रहे पर ऐसे मे धर्म सुरक्षित नही रह सकता।

भला, जब आज मूल धर्म अपरिग्रह की उपेक्षा है, तब अहिंसा आदि धर्म भी कैसे पनप सकते है? आगम मे स्पष्ट कहा है कि पापो का मूल परिग्रह है। और इसीलिए आत्म-कल्याणार्थी को परिग्रह के त्याग का प्रथम उपदेश है। लोक म मोक्षमार्ग के गमन के लिए भी प्रथम सीढ़ी मुनित्वरूप को स्वीकार करना बतलाया है—तीर्थंकर भी सर्वप्रथम परिग्रह से निवृत्ति लेते है और तब अहिंसादि महाव्रत धारण करते है। पर, आज तो लोग अहिंसा का उपदेश पहिले देते है—परिग्रह परिमाण और परिग्रह त्याग पर उनका ध्यान ही नही है।]

यही कारण है कि आज परिग्रह सर्वोपरि बन बैठा है और वही धर्म की जड़ को खोखला किये दे रहा है। आज किसी भी वर्ग को देखिये वह परिग्रह से ही जुड़ा हुआ है। और तो और; आज स्थिति ऐसी आ गई है कि घोर परिग्रही भी आत्म चर्चा मे लग रहा है और बाह्य वेष में नग्न पुरुष आडम्बर और क्रियाकाण्ड में रप ले रहा है। जब आचार्य कुन्दकुन्द सर्व परित्याग कर आत्मानुभव कर सके—समयसार (आत्मा) के स्वरूप वर्णन के अधिकारी बने, तब कई नामधारी आत्मार्थी घोर परिग्रह से जकड़े हुए, आत्मदर्शन मे लगे हो—वे कह रहे हों—तू आत्मा को देख, पहिचान, तो भी अचंभा नही जबकि वे स्वयं मे आत्मा से अजान और अन्तरग वहिरग दोनों प्रकार के परिग्रहो मे मोही तक देखे जाते है। यदि अत्युक्ति नही तो हम तो अब तक अधिकांश ऐसा देख पाये हैं कि आत्मा की चर्चा अधिकाशत: लोग बाह्याचार की उपेक्षा करके भी कर रहे हैं और वह इसलिए कि इस चर्चा की आड़ मे उनका परिग्रह पाप छिपा रह सके और वे धर्मात्मा कहलाएँ। और यह फलित भी हो रहा है। अर्थात् जो चर्चा मन्द राग भाव मे करने की है उसे परिग्रही अपना बैठे है और बाहर से नग्न व्यक्ति परिग्रह के चक्कर में फँस गये है और कई श्रावक उन्हे फँसा भी रहे हैं।

क्या कभी आपने सोचा है कि—आत्मा को देखने-दिखाने, पकड़ने-पकड़ाने का प्रयत्न अन्तारक्ष के पकड़ने-पकड़ाने के समान असम्भव है। पकड़ने के लिए बढ़ते जाने पर अन्तरिक्ष दूर-ही दूर होता जाता है और कुछ हाथ नही लगता। जैसे अन्तरिक्ष अनन्त है वैसे आत्मा भी अपने गुण-स्वभाव मे अनन्त है। आत्मा का, आत्मा के गुणों का, संकोच-विस्तारण स्वभाव का कोई अन्त नही—यह सूक्ष्म भी है और लोकपूर्ण भी है। अन्तरिक्ष और आत्मा दोनो ही अरस, अरूप, अगन्ध है शब्द और स्पर्श से रहित हैं—इन्द्रिय और मन के ग्राह्य नही। फलत: इनका साक्षात्कार निर्विकल्प और स्वानुभूति की दशा में ही सम्भव है और ऐसा राग-भाव की अनासक्ति मे होता है।

आत्मा के दर्शन करने कराने—पहिचानने पहिचनवाने और साक्षात्कार का जो मार्ग परिग्रही मनोवृत्ति में अपना रखा है वह तीर्थंकरो और कुन्दकुन्दादि के मार्ग से सर्वथा विपरीत और बालू से तल निकालने के प्रयत्न की भाँति है उससे परमार्थ लाभ नहीं; लाभ तो राग के कृश करने मे है।

तीर्थंकर की बाल्यावस्था मे भी वे बड़े-से-बड़े विद्वानो से भी बड़े ज्ञानवान् थे। शुद्धात्म-प्राप्ति के लिये उन्होने

पहिले उन पदार्थों के स्वभाव का चिन्तन किया जो सामान्य जगत को भी इन्द्रियग्राह्य-रूपी और पर थे। इसीलिए उन्होंने बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा पहिले पर-पदार्थों से विरक्ति ली। संसार के अनित्य, अशरण आदि स्वरूप का मुहुर्मुहु चिन्तन किया और उनसे विरक्त होकर दृष्टिगोचर बाह्य से निवृत्ति ली। बाह्य-निवृत्ति हो जाना ही तो स्वात्म प्रवृत्ति है। स्मरण रखना चाहिए कि रागी प्राणी की पकड़ आत्मा पर असम्भव है और वह इन्द्रियमन-ग्राह्य को ही, सरलता से पहिचान सकता है—उसकी असारता को जानकर उससे केवल विरक्त हो सकता है।

पर, आज उल्टे मार्ग पर चलने की कोशिश की जा रही है—अरूपी आत्मा को देखने-दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने की चर्चा चल रही है और साक्षात् दिखाई देने और इन्द्रिय गोचर होने वाले नश्वर पदार्थों की विरक्ति से मुख मोड़ा जा रहा है—परिग्रह का सचय किया जा रहा है। ऐसे मे आत्मा का अनुभूति मे आना कैसे सम्भव है? इसे पाठक विचारें।

हम तो जहाँ तक समझ पाए है वह यही है कि लोगो की परिग्रह वृत्ति ने आत्मचर्चा करने मे लगे रहने के बाद भी उन्हे आत्मा से दूर रखा है, यहाँ तक कि वे बाह्याचार को भी भुलावा मान बैठे हैं। यद्यपि वे व्यवहारिक सभी कार्य कर रहे है—पूजा: प्रतिष्ठादि मे भाग ले रहे है—श्रावक और साधु की पहिचान भी उनके बाह्याचार से कर रहे है। फिर, मजा यह है कि वे जिसे हेय बता रहे है, उसी से चिपके जा रहे है। अहिंसा का नारा दे, परिग्रह को आत्मसात् किये जा रहे है। अन्यथा इन वक्ताओं और वाचकों से पूछा जाय कि इनके भाषण से कितनों ने आत्मदर्शन किये और कितन परिग्रह से मुख मोड़ गये?

तब तीर्थंकरो ने परिग्रह से मुख मोडा और अब सच्चे ज्ञानी लोग इन परिग्रहियो से भयभीत हैं कि कही ये परिग्रही उन्हे भी परिग्रही न बना दें? आखिर, इन परिग्रहियों ने लेने के साथ देने का धन्धा भी तो बना रखा है—ये लेते अधिक और देते कम है। ये देते है अपनी ख्याति और मान-बडाई के लिये। इन्होंने अनेकों साधु, संन्यासी और मोही-ज्ञानियों तक को खरीद रखा है—धन-वैभव और चांदी के टुकड़ों को डालकर। अन्यथा, जैसी खिलवाड़ आज धर्म के नाम पर चल रही है, वह न होती—साधु और पंडित धर्म के मूल अपरिग्रह के पाठ को पीछे न फेंक देते।

हमे बड़ा अटपटा-सा लगता है जब हम आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि सहस्राब्दी मनाने के ढंगों को देखते है। कुन्दकुन्द के प्रति दिखावटी गुणगानो को देखते है और कुन्दकुन्द द्वारा बतलाये हुए मार्ग की अवहेलना को देखते हैं। जो आचार्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके है उन्हें लोग निष्फल ढो रहे हैं, उन्हे दूरदर्शन और आकाशवाणी तक ले जा रहे है—जैसे वे कुन्कुन्द की ख्याति में चार चाद लगाते हों, खेद? भला, जो लोग स्वय को कुन्दकुन्द के उपदेशानुकूल न ढाल सके हो, उनकी बात न मानते हो, उन्हे क्या अधिकार है कुन्दकुन्द के नाम तक के लेने का? ऐसे विपरीत कार्य तो परिग्रह-सचय-दृष्टि ही कर सकते हैं।

बुरा न माने, क्या कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार-संहिता की अवहेलना कर, नई आचार संहिता बनाने का प्रसंग उठाना ही द्वि-सहस्राब्दी मनाने की सार्थकता है? क्या, उक्त प्रस्ताव का अर्थ यह नही होता कि वर्तमान मुनि शिथिलाचार के समक्ष अपने हथियार डालने को सनद्ध है और हम जैसे-तैसे उन्हे समर्थन देने के मार्ग खोज रहे है? और वर्तमान मुनियों की दशा आज किसी से छिपी नही है—कही-कही तो घोर अनर्थ भी हो रहे है। क्या ऐसी दशा में कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार संहिता को आगे लाना और मुनियों व श्रावकों को तदनुरूप आचरण करने को मजबूर करना कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सार्थकता नही? जो नई सहिता बनाने का प्रस्ताव है? और कुन्दकुन्द की सहिता को पीछे किया जा रहा है, खेद।

कुन्दकुन्द ने समयसार रचा और आचार्य अमृतचन्द्र ने अमृतकलश। उन्होने 'स्वानुभूत्या चकासते'—आत्मा

अपनी अनुभूति-अनुभव से प्रकाशित होता है ऐसा कहा। और आज आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग पर—परिग्रह मे लीन रहकर, उसके सहारे खोजा जा रहा है। प्रचार भी परिग्रह के बल पर किया जा रहा है—कही जलसे करके और कही साहित्य छपवाकर। किसी का भी ध्यान स्वानुभूति के मार्ग—पर-निवृत्ति पर गया हो तो देखे, आत्मचर्चा वालो मे कोई मुनि बना हो तो देखें।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही क्यो? अन्य सभी आचार्यों ने भी 'चारित्त खलु धम्मो' की पुष्टि की है और सभो ने स्वय तद्रूप आचरण किया—चारित्र की सम्पुष्टि के लिए परिग्रह का त्याग किया है। वे भली भांति समझ चुके थे कि जब तक पर से निवृत्ति नही ली जायगी तब तक स्वानुभूति करने की बात व्यर्थ है।

काफी अर्से पूर्व आत्मज्ञान—समयसार वाचन का मार्ग हमारे समक्ष आया वह हमारा पुण्योदय था। तब लोग प्राय. बाह्य क्रिया-काण्ड मात्र मे धर्म समझे हुए—एकागी थे और अब क्रियाकाण्ड से हट केवल आत्मार्थी रहकर एकांगी हो गये है। शायद आज के मुनि २८ मूल गुणो के पालन को भी क्रियाकाण्ड मान बैठे है—जो उनके पालन से विमुख है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म मे सम्यग्दर्शन;ज्ञान और चारित्र इन तीनो की एकरूपता को स्थान दिया गया है अकेले एक या दो को अपूर्ण माना गया है। फलत.—कोरी आत्मा—आत्मा की रटन और साथ मे परिग्रह सचय की भरमार व्यर्थ है।

स्मरण रहे कि ऐसी थोथी बातो से न तो आत्मा मिलेगी और न ही सम्यग्दर्शन मिलेगा—इनकी प्राप्ति तो पर-परिग्रह की निवृत्ति और वैराग्य भाव से ही होती है। तथा वैराग्य भाव दृश्य और अनुभूत नश्वर सामग्री के स्वरूप चिन्तन से होता है। फलत:—पहिले बाह्य से निवृत्ति लेनी चाहिए, चारित्र धारण करना चाहिए, परिग्रह को कृश करना चाहिए तब आत्मचर्चा की सार्थकता होगी। परिग्रह से तो आत्मा का घात ही होता है—अहिंसा के पुजारी इसकी रक्षा करे।

२. साधु बनना टेढ़ी खीर है :

भव-सुधार के लिए वेष धारण करने की अपेक्षा मोह को कृश करने की प्रथम आवश्यकता है—सब बन्धनों की जड़ मोह है इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—"गृहस्थोमोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैवमोहवान्। अनगारो गृहीश्रेयान् निर्मोहो मोहिनेमुन॥"—निर्मोही गृहस्थ किसी मोही साधु से श्रेष्ठ है।

ऐसा सर्वथा ही नही है कि वर्तमान साधु उक्त तथ्य को न समझते हो—वे समझते भी है पर, कई की मजबूरी ये है कि वे इस तथ्य को तब समझ पाये, जब वे मुनि-दीक्षा ले चुके। और ऐसा तब हुआ जब उन्हे मुनि-पद जैसी कठोर परीषहो से गुजरना पडा। और ठीक भी है कठोर परीषहो का सहना कोई खाला जी का घर तो नही, बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम है। पर. क्या करे जिनमत मे व्रत लेकर छोड़ देने का विधान भी नही है। वहा तो साँप-छछूंदर जैसी गति बन बैठती है, जिसे न निगले ही बनता है और न उगलते बनता है—बेचारे बीच में लटके रहते है—'त्रिशकु' न श्रावक और न मुनि। ऐसे व्यक्ति वेष से मुनि और आचरण से श्रावक जैसा परिग्रही जीवन यापन करने लगते है या उससे भी कम।

आपको ये जो मन्दिर मे दिखने वाले श्रावक है, उनमे कई ऐसे दिख सकते है जो सरल-स्वभावी, मद-परिणामी और श्रावक की दैनिक क्रिया मे जागरूक हो और ऐसे मुनि भी जहा कही भी दिख सकते है जो मन से भी परिग्रह के चारो ओर चक्कर लगा रहे हो। ऐसी बात नही कि सभी श्रावक और सभी मुनि शिथिलाचारी हों—कुछ मुनि कर्तव्य के प्रति जागरूक भी होगे। पर, वर्तमान के वातावरण को देखते हुए अधिकांशत: दोनों ही वर्गों मे शिथिलाचार अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारे साधुओ के शिथिलाचार मे श्रावको का भी बड़ा हाथ है। कुछ श्रावक निज स्वार्थ पूर्तियो के लिए भी साधुओं को घेरते है—कही मन्दिर, कही तीर्थों के चन्दों के लिये भी साधुओ का उपयोग किया जाता है : आदि।

साधु की निन्दा कई लोग करते देखे जाते हैं। पर, निन्दा करने से कुछ हाथ नही आयेगा। यदि श्रावकगण अपने मे सावधान हों और साधुओ का घिराव बन्द करे—उनसे पीछी का आशीर्वाद, कमण्डलु का पानी, गण्डा, तावीज, मत्र-तंत्र न मागे। बड़े-बड़े पण्डालो में ऊची स्टेजें बनाकर हजारों की भीड मे उन्हे न घेरें, तो साधु के अहं को ब्रेक लग सकता है—वह अपने मे सावधान रह सकता है। कुछ समाचार पत्र भी साधुओ को उछाल कर उनके अह को बढ़ावा देते हैं। जब साधु समाचार मे अपने को आगे पाता है तो उसे यश का अहं जागता है—वह पद से च्युत भी हो जाता है सामाजिक उथल-पुथल और दूसरो के सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है।

आज जैन समाचार पत्रो की दशा भी दयनीय है—प्रायः सभी मे एक जैसे समाचार ही रहते है जैसे इसके सिवाय उन्हें छापने को कुछ और रह ही न गया हो। फलतः—जनता के मन बहलाव को वे मुनियो की स्थान-स्थान पर उपस्थिति दिखाकर उनके आशीर्वादो की घोषणा का प्रचार भी करते रहते है और इससे मुनि के अहं को पोषण मिलता है। पेपर वाले मुनि का आशीर्वाद ले, अपनी दुकानदारी जमाते हो, यह बात दूसरी है।

यदि सुधार अपेक्षित है तो सभी को एकमत होकर साधु सस्था को ठीक करना चाहिए। क्योंकि आज मुनियों के शिथिलाचार के प्रति त्यागी भी चिंतित हैं। श्री ऐलक सुध्यान सागर जी ने अभी जो विज्ञप्ति प्रकाशित कराई है वह ध्यान देने योग्य है। उसे हम यहां उद्धृत कर रहे है—

"जितनी हमारी जैन सस्थाएँ हैं उनके पदाधिकारी गण मिलकर आजकल साधु मार्ग मे जो शिथिलाचार की वृद्धि हो रही है उसको दूर करने का प्रयत्न करें तो मूलसंघाधिपति प० पू० १०८ अजितसागर जी का आशीर्वाद तथा आदेश लेकर प्रत्येक शिथिलाचार का पोषण करने वाले आचार्य साधुओ के पास पहुंचें, उनसे शान्ति से स्पष्ट कहें कि जो-जो आगम विरुद्ध क्रिया उनसे हो रही है, जैसे—एकाकी रहना, एक स्त्री साध्वी को रखना चंदा-चिट्ठा करना, गंडा-तावीज बेचना, बस (मोटर)-वाहन रखना, संस्था बनाके वही पर जम जाना, कूलर, फ्रीज, पखा, वी० सी० आर० टेलीविजन आदि जिनागम के विरुद्ध वस्तुओ का रखना तथा उपयोग करना एव जवान कन्याओं को साथ रखना, उनका ससर्ग करना, एकाकी साध्वी को बगल के कमरे मे सोने देना, इत्यादि धर्म-ह्रास क्रियाओ को अवश्य रोकना चाहिए। साम, दाम, दण्ड-भेद से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा रखते हुए अवश्य धर्म की संरक्षा करनी चाहिए।"

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

प्राप्ति होती है। प्रामाणिमक पूर्वाचार्य गणधरादिक उनकी वाणी का विस्तार करने मे समर्थ हुए। सभी ने राग-द्वेष की निवृत्ति को आत्मधर्म बताया। राग-द्वेष ही घोर परिग्रह है—इनमे ही क्रोध, मान-माया-लोभ का उदय होता है। हिंसादिक पाप भी इन्हीं परिग्रहो के कारण से होते है—अतः परिग्रहों के त्याग पर बल देना जैनी का कर्तव्य है। स्मरण रहे कि आज जैन के ह्रास मे मूल कारण परिग्रह और परिग्रहियो की परिग्रह वृत्ति है।

तीर्थंकर ऋषभदेव की धर्म सभा मे प्रधान शासन गणधरदेव का ही रहा—उन्हीं के व्याख्यान को प्रामाणिकता मिली। और वह इसलिए कि गणधर भी अपरिग्रही थे—अतः वे तत्त्व को यथार्थ कह सके। आज तो वैसे गणधर दुर्लभ है—अब तो प्राय. वाचक भी परिग्रह के नशे मे झूमते है कई परिग्रह की बढ़वारी मे और कई परिग्रह की तृष्णा में। कई तो शास्त्र-निर्माता या व्याख्याता बनकर गणधरो के ऊपर जैसे बैठना चाहते हो—अपनी रचनाओ को जिनवाणी मनवाने के जाल बुन रहे हो, तब भी आश्चर्य नही। पर, स्मरण रहे; हम तत्त्व के सम्बन्ध मे लिखी आधुनिक सभी व्याख्याओ या भाषान्तरों को किसी भी भाँति आगम मानने के पक्षधर नही। हमारी दृष्टि आरातीय निष्परिग्रही आचार्यों की मूल शब्दावली पर ही है—हम उसे ही आगम मानते है और बार-बार उद्घोष करते है कि आगम सुरक्षा के लिए फेर-बदल के बिना मूल शब्दो के अर्थ मात्र दिए जायें और यदि व्याख्या करना इष्ट हो तो मौखिक ही की जाय ताकि गलत रिकार्ड की आशंका से बचा जा सके। यदि उक्त विसंगतियो के ठीक होने की दिशा मे कदम उठाया जाता है तो निर्वाण उत्सव के बहाने जैन के निर्माण मे सहायता मिल सकेगी। शुभमस्तु सर्वजगतः। □□

आगम से चुने ज्ञान-कण

संकलयिता : **श्री शान्तिलाल जैन कागजी**

१. आत्मा ज्ञानकरि तादात्म्यरूप है, तोऊ एक क्षणमात्र भी ज्ञानकूं नाही सेवै है । ये बड़ी भूल है ।

२. परद्रव्य मो स्वरूप नाहीं है । मैं तो मैं ही हू, परद्रव्य है सो परद्रव्य ही है ।

३. परद्रव्यकू पर जान्या फेरि परभावका ग्रहण नाही, सोही त्याग है, ऐसैं यहु जानना ही प्रत्याख्यान है ।

४. क्रोधादिक अर ग्यान न्यारे-न्यारे वस्तु है, ग्यान मे क्रोधादिक नाही, क्रोधादिक मे ग्यान नाही । ऐसा इनिका भेद ज्ञान होय तब एकपणाका अज्ञान मिटै । तब कर्मका बध भी न होय ।

५. जो द्रव्यस्वभाव है, ताहि कोई भी नाही पलटाय सकै है, यह वस्तु की मर्यादा है ।

६. ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाधीन है, किन्तु ज्ञेयो का परिणमन ज्ञान के आधीन नाहीं है ।

७. जीव या आत्म-पदार्थ इन्द्रिय का विषय नाहीं है ।

८. सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप मे तीन-तीन प्रकार के होते हैं ।

९. सम्यग्ज्ञान क्षायोपशमिक और क्षायिक रूप मे दो प्रकार का होता है ।

१०. मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र ये दोनों औदयिक ही होते है ।

११. मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक ही होता है ।

१२. जाननेमात्रतै बध कटै नाही । बध तो काट्या कटै ।

१३. ससार देह भोगों से विरक्तता होना । असीम इच्छा रुक कर सीमित होना । निरर्गल प्रवृत्ति का बन्द होना और यत्नाचार पूर्वक क्रिया का होना ये मोक्ष मार्ग है ।

१४. तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीव को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा कल्याणकारी नही है ।

१५. कोई भी कर्म बिना फल दिये निर्जीर्ण नही होता, ऐसा जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है; जयधवल पुस्तक ३ पृ. २४५ ।

१६. अन्तरात्मा की गति मिथ्या दृष्टि कहा जाने ।

१७. ज्ञानी ऐसे जानै है, जो सत्तारूप वस्तु का कदाचित् नाश नही और ज्ञान आप सत्तास्वरूप है ।

१८. बन्ध होने मे प्रधान मिथ्यात्व और अनंतानुबधी का उदय ही है ।

१९. जो जाने है सो करे नही है और जो करे है सो जाने नही है ।

२०. झूठा अभिप्राय सो ही मिथ्यात्व, सो ही बध का कारण जानना ।

२१. क्या सयम धारण करने की चटापटी लगी है, क्या पर पदार्थ के प्रति उदासीनता आई है, क्या पर पदार्थ में स्वामीपना छूटा है, क्या भय लगा रहता है, क्या वर्तमान पर्याय में और रहने का मन करता है, क्या संसारी अनुकूलता मे आनन्द आता है, क्या प्रतिकूलता मे भय लगता है, ये कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनके बारे में हमें खुद ही सोचना है और उसका उत्तर भी हमे अन्दर से ही मिलेगा । फिर इसका निर्णय कर सकेगे कि हमारे पास सम्यक्त्व है या नही ?

२२. प्रथम सम्यग्दर्शन के होते ही जीव के पर पदार्थों में उदासीनता आ जाती है और जब उदासीनता की भावना दृढ़तम हो जाती है तब आत्मा ज्ञाताद्रष्टा ही रहता है ।

२३. पर के सम्बन्ध से रागादिक ही होते हैं और रागादिकों के नाश के अर्थ ही हमारी चेष्टा है ।

२४. केवल बाह्य पदार्थों के त्याग से ही शान्ति का लाभ नहीं; जब तक मूर्च्छा की सत्ता न हटेगी ।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

परमाध्यात्म-तरंगिणी ... ... प्रेस मे

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST